अथर्वाङ्गिरस परम्परा में सांस्कृतिक मूल्य

मोती लाल पुरोहित 'प्रज्ञाचक्षु'

अथर्वाङ्गिरस-परम्परा में सांस्कृतिक मूल्य

डॉ० मोतीलाल पुरोहित 'प्रज्ञाचक्षु'
एम.ए.,पी.एच-डी.
उपाचार्य, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय
जबलपुर (म० प्र०)
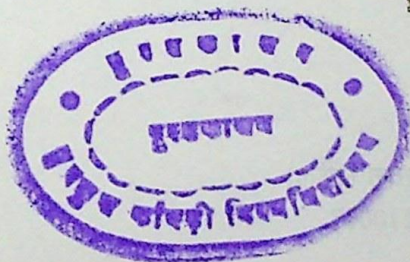
प्रतिभा प्रकाशन
दिल्ली

Atharvāṅgirasa Paramparā mein Sāṁskṛtika Mūlya

Dr. Motilal Purohit
Reader
Deptt. of Sanskrit, Pali & Prakrita
R. D. University
Jabalpur (M.P.)

Pratibha Prakashan
DELHI

Published under the publication grant of U.G.C. provided by Rani Durgavati Vishwavidyalaya, Jabalpur.

First Edition 1998

ISBN : 81-85268-70-3

Rs. 200.00

Published by :
Pratibha Prakashan
(Oriental Publishers & Booksellers)
29/5, Shakti Nagar, Delhi-110007.
Phone : 7451485

Laser Typesetting at :
Vishal Computers, 20-A, Sri Nagar Colony,
Near Bharat Nagar Road, Delhi-52

प्रास्ताविक

भारतीय वाङ्मय का प्रारम्भ वैदिक साहित्य से ही है। यद्यपि वेदत्रयी में ऋग्वेद का सर्वाधिक महत्त्व रहा है फिर भी अथर्ववेद ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त उल्लेखनीय है। अथर्वन् और अंगिरा दो ऋषि-परम्परा और उससे संबद्ध अन्य ऋषियों द्वारा दृष्ट मंत्र इस संहिता में हैं।

अथर्वांगिरस परम्परा का उल्लेख ऋग्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद्, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र तथा परवर्ती धर्मशास्त्रीय वाङ्मय, महाभारत तथा पुराण साहित्य आदि में मिलता है। यज्ञीय कर्मकाण्ड से संबद्ध कृतियों में भी अथर्वांगिरस का महत्त्व दिखाई देता है। यज्ञ के विस्तार जैसे महत्वपूर्ण पद पर अथर्ववर्ण आचार्य होना चाहिये, यह यज्ञीय कर्मकाण्ड के ग्रन्थों में उल्लिखित है। अंगिरा अथर्ववेद में अभिचार सूक्तों के ऋषि हैं। अथर्वांगिरस परम्परा कालक्रम में निरन्तर बढ़ती गई, यहाँ तक कि संस्कृत के लौकिक साहित्य में भी उसके तत्त्व दिखाई देते हैं। महाकवि कालिदास को इस परम्परा से संबद्ध होने के कारण कवि अत्यधिक आदर से उनका उल्लेख करते हैं। मनुस्मृति में भी उक्त प्रभाव सुस्पष्ट है।

राजनैतिक तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से अथर्ववेद में पर्याप्त सामग्री है। राजा के आदर्श और उससे संबद्ध मूल्यों का विवरण ही नहीं अपितु अथर्ववेद में परीक्षित का आदर्श राजा के रूप में भी उल्लेख है। अथर्ववेद के अनुसार एकतंत्रात्मक तथा गणतंत्रात्मक दोनों प्रकार की शासन प्रणालियां प्रचलित थी। ऋग्वेद में वर्णित सभा, समिति और विदथ आदि संस्थाओं के गठन एवं कार्य-विधि से संबंधित अधिक सामग्री प्राप्त है। राजनैतिक विचारधारा के भारतीय चिन्तन सूत्र अथर्ववेद में मिलते हैं।

भारतीय सभ्यता के विकास में सामाजिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। वर्ण-व्यवस्था से संबद्ध प्रथम उल्लेख ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में दृष्टिगोचर होते हैं। अन्य सामाजिक विवरण भी उसमें उपलब्ध हैं। अथर्ववेद में इन सब पर अधिक सामग्री मिलती हैं। जाति, वर्ण और आश्रम का अधिक विवरण देते हुए अथर्वांगिरस परम्परा में राजतंत्राधारित समाज-व्यवस्था पर अधिक बल दिया गया है। भृग्वंगिरा अथवा अथर्वांगिरा की महत्ता बहुविध है। बृहस्पति जिनका अपने पूर्ववर्ती अर्थशास्त्री के रूप में कौटिल्य उल्लेख करते हैं, वे भी इस परम्परा के हैं। राजनैतिक विचारों के वार्हस्पत्य रूप को खोजने में इसका उपयोग किया जा सकता है।

विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भी अथर्वांगिरस- परम्परा का अत्यंत उल्लेखनीय स्थान है। एक धातु से दूसरी धातु के मिश्रण और उसके प्रयोग का श्रेय भी इन्हीं को है। अथर्ववेद के वैज्ञानिक संदर्भ इसका संकेत तो देते ही हैं पर अथर्ववाङ्मय में इन प्रयोगों की और अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। वास्तव में भारतीय सभ्यता की अत्यधिक उल्लेखनीय उपलब्धियाँ अथर्वांगिरस परम्परा द्वारा ही प्राप्त हुई हैं।

अभिचार-परक सामग्री का वेद के मंत्र के रूप में संकलित किया जाना भी एक महत्वपूर्ण घटना है। ऋग्वेद में परोक्ष रूप से अत्यन्त अस्पष्ट विवरणों में इस प्रकार की सामग्री मिलती है। परन्तु अथर्ववेद में इनका विस्तार से उल्लेख किन प्रभावों और कारणों से हुआ इस पर विद्वानों ने विचार किया है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे आर्य-अनार्य संघर्ष के बाद अनार्यों के आर्यों के साथ सम्मिश्रीकरण की प्रक्रिया का परिणाम बताया है। भारतीय विद्वानों ने भी प्रायः यही दृष्टिकोण अपनाया है। इस बिन्दु पर विचार आवश्यक है। यह भी कहा गया है कि इसी सामग्री के कारण ऋक्, साम और यजुष का तो ग्रहण त्रयी में किया गया है अथर्व का नहीं। अथर्ववेद में ऋग्वेद के भी सूक्तों का संग्रह है। वस्तुतः त्रयी प्रायशः ऋग्वेद का ही विस्तार है। साम और यजुष के अधिकांश सूक्त और मंत्र सामग्री ऋग्वेद से ही ली गई है। अतः सामग्री और ऋषियों की दृष्टि से यह एक समूह हो सकता है, जिसे त्रयी कहा गया। अथर्व वेद में प्रायः नई सामग्री है तथा सबसे बड़ी संहिता भी वही है। यह भी कहा गया है कि ऋग् के मंत्रों के संकलन के बाद अवशिष्ट और नई सामग्री के कारण यह वेद अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। वैसे ऋग्वेद में 'अथर्वा' ऋषि का उल्लेख है। ब्राह्मण ग्रन्थों में संभवतः पहली बार चार वेदों का उल्लेख है। बाद में महाभारत मनुस्मृति आदि में त्रयी और चार वेद का उल्लेख है। जहां तक सामग्री के अपने स्वरूप का प्रश्न है यह विचार ही अग्राह्य हो गया है कि आर्य जाति वाचक शब्द नहीं है। वह गुण वाचक है। आर्य कहीं बाहर से भी नहीं आये थे, वे इसी देश के मूल निवासी थे। अतः आर्य और आर्येत्तर के सम्मिश्रण के रूप में ऋग्वेद को देखने का कोई कारण नहीं है। महाभारत एक महत्वपूर्ण जानकारी देता है कि प्रत्येक दिशा का एक सप्तर्षि मण्डल है। सप्तर्षि-मण्डल की इस जानकारी और धारणा के कारण पूरे देश में एक ही प्रकार के मनुष्यों का निवास था। उनके क्षेत्रगत अंतर के कारण ही सप्तर्षि-मण्डल तथा अन्य सांस्कृतिक तथा सभ्यतागत वैशिष्ट्य दिखायी देते हैं। पूरे देश में एक ही समरसता तथा सांस्कृतिक एकता विद्यमान रही है। इसकी प्राचीनता का साक्षी अथर्ववेद है।

डॉ. मोतीलाल पुरोहित रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर के संस्कृत, पालि, प्राकृत स्नातकोर अध्ययन एवं शोध विभाग में प्रवाचक के पद पर कार्यरत हैं। उन्होंने अथर्वांगिरस परम्परा की विशेषता बताते हुए एक प्रमाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत किया है। उनका परिश्रम और मौलिकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका यह कार्य इसलिये और अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वे प्रज्ञा चक्षु हैं उनकी सम्पूर्ण शिक्षा-साधना इस बाधा के बाद भी उल्लेखनीय सफलताओं के साथ पूरी हुई है। डॉ. पुरोहित के इस ग्रन्थ ने अथर्वांगिरस-परम्परा से संबंधित सामग्री को संकलित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

मुझे पूरा विश्वास है कि डॉ. मोतीलाल पुरोहित की इस कृति का विद्वत्-समाज में समादर होगा। संशोधकों को इसमें एक नई दृष्टि मिलेगी तथा आगामी शोध के संकेत भी।

19 दिसम्बर 1997 **डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी**
जबलपुर (म.प्र.)

जीवन की स्मृतियों में अथर्ववेद का अध्ययन

राजस्थान प्रान्त के जोधपुर जिले के अन्तर्गत फलोदी तहसील में लोर्डियाँ नाम का गांव है जो जोधपुर-फलोदी राजमार्ग पर स्थित है। इस लोर्डियाँ नामक गाँव के निवासी मेरे पूज्य पितामह स्व. श्रीमान् श्री किशनदास जी पुरोहित अथर्ववेद एवं आयुर्वेद के ज्ञाता थे। उनके पुत्र अर्थात् मेरे पूज्य पिता स्व. श्री नरनारायण जी पुरोहित उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवतगीता एवं शांकर वेदांत के परम उपासक थे। मेरी पूजनीया माताजी श्रीमती सोहनी देवी पुरोहित इस बात के लिए सदा व्यग्र रहती थी कि उनके पुत्रियाँ तो हैं किन्तु पुत्र नहीं। पुत्र न होने का अभाव इनके जीवन को सदैव अशान्त बनाए रखता था।

किसी समय लोर्डियाँ ग्राम में एक ऐसे विद्वान् का आगमन हुआ जो अथर्ववेद के साथ ज्योतिष के विशिष्ट ज्ञाता थे। उन्होंने मेरी माताजी के समक्ष पुत्र उत्पन्न होने की भविष्यवाणी तो की ही साथ ही पुत्र के नेत्र ज्योति के ग्रसित होने सम्बन्धित विपदा का भी अप्रत्यक्ष संकेत किया। मेरी पूजनीया माताजी केवल पुत्र होने संबंधी पक्ष को ही ग्रहण कर सकी, अन्य किसी विपत्ति के संकेत को नहीं।

कालान्तर में जब मेरा जन्म हुआ तो न केवल मेरे परिवार में अपितु समूचे क्षेत्र में प्रसन्नता की लहर उत्पन्न हो गई। किन्तु कौन जानता था कि यह प्रसन्नता क्षणिक मात्र है। दो वर्ष की उम्र के पूर्ण होते ही उस क्षेत्र में चेचक के अत्यधिक प्रकोप के कारण जनहानि हुई, मुझे भी अपनी नेत्र ज्योति से वंचित होना पड़ा। तब बस समूचे परिवार के समक्ष अंधेरा छा गया। माँ ने अपने एक मात्र पुत्र को नेत्रहीन होता देख रो-रोकर स्वयं की भी नेत्र दृष्टि क्षीण कर दी। जब मेरी आयु चार-पाँच वर्ष की थी तभी मेरे पिताजी के जीवन में कुछ ऐसा अद्भुत संयोग हुआ कि उन्हें बंबई में ऐसे-ऐसे महापुरुषों का सत्संग प्राप्त हुआ, जिनका जीवन सर्वथा अनुकरणीय था। उन महापुरुषों में जब पूज्यपाद स्वामी गंगेश्वरानंदजी महाराज का दर्शन किया और उनके प्रेरणात्मक प्रवचनों को सुना तो उनके जीवन में एक नवीन चेतना सी उत्पन्न हुई। स्वामी गंगेश्वरानन्दजी प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान, महान चिन्तक एवं विचारक थे। स्वामी जी के जीवन से प्रेरणा पाकर मेरे पिताजी ने भी मन में यह दृढ़ संकल्प लिया कि मैं भी अपने नेत्रहीन पुत्र को संस्कृत पढ़ाकर एक योग्य विद्वान् बनाऊंगा।

मेरे गाँव में ही स्व. श्री किशनलाल जी जोशी 'अन्नू जी महाराज' के नाम से विख्यात् प्रज्ञाचक्षु संत निवास करते थे। महाराज जी ने गाँव में ही माँ लटियाली के मंदिर का निर्माण कराया था तथा उसी मन्दिर में रहकर वे लोगों को संस्कृत, विशेष रूप से वेद पढ़ाने का कार्य करते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूज्य अन्नू जी महाराज उस विशिष्ट गुरु-परम्परा के वेद ज्ञाता थे जिस वेदाध्ययन की परम्परा का आज राजस्थान में वेद-प्रचार

के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। फलौदी क्षेत्र में ही स्वनाम धन्य श्री शिवराज जी वोहरा 'ऋषि महाराज' साक्षात् वेदमूर्ति के रूप में अवतरित हुए। जिन्होंने राजस्थान के पश्चिम भाग में वेद-अध्ययन की परम्परा को प्रचुर मात्रा में आगे बढ़ाया। वे चारों वेदों के निष्णात् आचार्य थे। ऋषि महाराज के परिश्रम एवं तपस्या का ही फल है कि फलौदी क्षेत्र में शताधिक ऐसे विद्वान् हैं जो आज भी वेद-परम्परा को अक्षुण्ण रूप से बनाए हुए हैं। श्री अन्नू जी महाराज, ऋषि महाराज के शिष्य थे। उन्होंने ऋषि महाराज के चरणों में बैठकर वैदिक संहिताओं का जो अध्ययन किया था वह अपने आपमें अक्षुण्ण था।

चूंकि अन्नू जी महाराज स्वयं दृष्टिलाभ से वंचित थे अतः नेत्रहीनता की व्यथा को भली भांति समझते थे। जब मेरे पिताजी ने मुझे संस्कृत पढ़ाने के लिए उनसे निवेदन किया तो उन्होंने कृपापूर्वक मुझे अपना लिया। इसके साथ ही मैंने संस्कृत अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। दस वर्ष की आयु होते-होते मुझे अधिकांश वैदिक संहिताओं के मंत्र कण्ठस्थ हो गए और यज्ञोपवीत के पश्चात् मैं आधिकारिक रूप से वेदाध्ययन में संलग्न हो गया था। उनके सानिध्य में वेदाध्ययन करते समय जब मैं यजुर्वेद संहिता के अध्ययनक्रम को पूर्ण कर रहा था तभी वे समय-समय पर प्रसंगानुसार अथर्ववेद के मंत्रों का पाठ भी मुझे सुनाया करते थे और कहा करते थे कि "अथर्ववेद के ये मंत्र जाजल्य-चारण शाखा के हैं जो मुझे अपने गुरु ऋषि महाराज ने कृपापूर्वक सिखाएं हैं, आज इस शाखा के वेदपाठी उपलब्ध नहीं हैं।"

तब मैं दस वर्ष की अल्पायु में क्या जानूं कि अथर्ववेद क्या है और उसकी जाजल्य-चारण शाखा का क्या महत्व है? उनके निर्देशानुसार कुछ मंत्र मैंने इस शाखा के सीखे जो मुझे आज भी याद हैं।

मेरा क्षेत्र एक दृष्टि से अत्यन्त सौभाग्यशाली माना जाता है कि वहाँ एक से एक संत महापुरुषों का आविर्भाव हुआ और उन्होंने अध्यात्म ज्योतिष से लोगों को आलोकित किया। उन संत महापुरुषों में पूज्यपाद महेश मुनि जी महाराज का नाम अग्रगण्य है जिन्होंने फलौदी में "वेद मंदिर' की स्थापना की है। स्वामीजी ने अपनी असीम कृपा प्रदान करते हुए संस्कृत के उच्च अध्ययन हेतु मुझे काशी भिजवाने का उपक्रम बनाया। इस दृष्टि से उन्होंने बम्बई में महालक्ष्मी स्थित साधुवेला आश्रम के पीठाधीश्वर पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय १०८ आचार्य स्वामी गणेशदास जी महाराज से मेरे जीवन को उज्ज्वल बनाने का निवेदन किया। साधुवेला आश्रम की एक शाखा पूज्य महाराज जी के निर्देशन में वाराणसी में भी संचालित है। महाराज श्री ने अत्यन्त वात्सल्य भाव से मुझे संस्कृत के उच्च अध्ययन हेतु काशी भिजवा दिया। काशी में मैंने अनेकानेक गुरुजनों के सानिध्य में विभिन्न विषयों का अध्ययन किया। उसी समय वेद के परम् विद्वान पं. जगन्नाथ त्रिपाठी सेवानिवृत्त आचार्य, वेद विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ पूर्वाधीत वेद ज्ञान को पुनर्जीवित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। लगभग बारह वर्ष के काशी प्रवास के अन्तर्गत वेद, व्याकरण, साहित्य

धर्मशास्त्र तथा संगीत आदि विषयों का अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उसी समय एक ओर जहाँ वेद के वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्याकार पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज, स्वामी अखंडानंद जी महाराज, महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, महामहोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, डॉ.क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि के गवेषणात्मक व्याख्यान सुनने को प्राप्त हुए वहीं पं. भगवत प्रसाद मिश्रा, पं. गोपाल चन्द्र मिश्रा, पं. विन्देश्वरी नाथ त्रिपाठी आदि विद्वानों के यजुर्वेद से सम्बन्धित विभिन्न शाखा पर आधारित पाठ सुनने को मिले। श्रद्धेय पं. मनोहर लाल जी द्विवेदी के सानिध्य में पूर्व में गुरुपाद अन्नू जी महाराज से पठित अथर्ववेद शौनक शाखा की पाठ विधि को नवीन रूप से सीखने का सौभाग्यपूर्ण सुअवसर प्राप्त हुआ। काशी में अध्ययन करते समय मैंने अथर्ववेद की जाजल्य-चारण शाखा के पाठ के सम्बन्ध में एक जिज्ञासु के रूप में जानने की चेष्टा की, तो वहाँ इस शाखा के पाठकर्त्ता मुझे प्राप्त न हो सके।

यद्यपि मैंने तत्कालीन वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वर्तमान सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्य शास्त्र का अध्ययन किया; किन्तु अथर्ववेद के साथ बाह्य तथा आन्तरिक दोनों दृष्टियों से जुड़कर उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ ज्ञान अर्जित करता रहा।

कालक्रमेण जब मैंने काशी से जबलपुर विश्वविद्यालय में अध्ययन हेतु एम.ए. कक्षा में प्रवेश लिया तो वहां पर कुलपति के रूप में डॉ. राज बली पाण्डेय तथा डॉ. कृष्णकान्त चतुर्वेदी के वेद विषयक व्याख्यानों ने मुझे वेदाध्ययन तथा उनके अन्वेषण के कार्य की ओर प्रेरित किया। एम.ए. कक्षा के पश्चात् जब मैंने शोध कार्य (पी.एच.डी.) हेतु पंजीयन कराना चाहा तो मेरी अभिरुचि के अनुसार अथर्ववेद पर आधारित "अथर्वांगिरस परम्परा तथा उसमें प्रतिपादित सांस्कृतिक मूल्य" यह विषय प्रदान किया गया, इसी विषय पर आगे चलकर मुझे पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई। वही शोध-प्रबन्ध अब पाठकों के कर कमलों में पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है।

स्मरण रहे कि मैं पुष्करणा ब्राह्मण हूँ, चूंकि मेरी जन्म भूमि पश्चिम राजस्थान है। इस क्षेत्र में इसी जाति के निवासियों का बाहुल्य है। मेरे प्रथम गुरु एवं मार्गद्रष्टा स्व. श्री किशनलाल जी जोशी 'अन्नू जी महाराज" तथा उनके भी गुरु ऋषि महाराज एवं वेद मन्दिर के संस्थापक मेरे जीवन निर्माता स्वामी महेश मुनि जी महाराज सभी पुष्करणा ब्राह्मण कुलोत्पन्न हैं। पुष्करणा ब्राह्मण के पूर्वज प्राचीन समय में सिन्धु नदी के तट पर निवास करते थे। जहाँ महर्षि वेदव्यास द्वारा चारों वेदों का संकलन किया गया है।

पुष्करणा ब्राह्मण के पूर्वज शताब्दियों से चारों वेदों की विभिन्न शाखाओं के पाठ का संरक्षण करते आए हैं। सौभाग्यवश उसी कुल में जन्म होने के कारण मैं अपने आपको अथर्ववेद की शौनक शाखा का एक छोटा सा विद्यार्थी मानकर उस पर कुछ लिखने जैसा दुस्साहस कर रहा हूँ। इस विषय में मेरी आकांक्षा तो प्रबल है किन्तु मति अल्प है; तथापि

गुरु कृपा से अल्प मति भी कुछ करने योग्य बन जाती है ऐसा संत महापुरुषों ने कहा है। अतः सर्वप्रथम मैं अपने गुरु त्रय स्व. श्री किशनलाल जी जोशी 'अन्नू जी महाराज', प्रातः स्मरणीय स्वामी महेश मुनि महाराज तथा महन्त आचार्य स्वामी गणेश दास जी महाराज के चरणों में विनयावनत होकर प्रणाम करता हूँ जिनकी असीम कृपा से ही मैं इन पंक्तियों को लिखने योग्य बन सका हूँ। इन पुरुषों के सम्बन्ध में कुछ भी लिखते समय मेरे ज्योतिहीन नेत्र अश्रुपूर्ण हैं, वाणी भक्ति भाव के कारण अवरुद्ध है। गद्‌गद् भावुक हृदय उनके अवदार्यपूर्ण गुणों के साथ संवाद कर रहा है तथा याचक मन उनके कृपा कटाक्ष की याचना कर रहा है।

सधन्यवाद

जबलपुर — डॉ. मोती लाल पुरोहित

पुरोवाक्

भारतीय तत्त्व-चिन्तन के स्रोत के रूप में वेद सर्वोत्तम सङ्कलन है। "विदि ज्ञाने" धातु से निर्मित इस वेद शब्द का वास्तविक अर्थ है ज्ञान। इस ज्ञान ने अपने आलोक से परवर्ती चिन्तन की सम्पूर्ण धारा को प्रभावित किया है। पाश्चात्य जगत में भी भारतीय तत्त्वविद्या की उद्घोषणा इन्हीं वेदों के द्वारा हुई है। यहाँ के ऋषियों ने अपनी तपोसाधना के द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का उपयोग मानवीय कल्याण की दृष्टि से किया। वैदिक ऋचाओं का साक्षात्कार आन्तरिक ज्ञान नेत्रों से अनुभूत कर उसे मन्त्रों के रूप में प्राप्त किया। इतस्ततः बिखरे हुए मन्त्रों के संकलन का स्वरूप प्रत्यक्षीभूत हुआ, तो उसे संहिता के नाम से अभिहित किया गया। वैदिक संहिताओं के अन्तर्गत ऋक्, साम और यजुः ने आन्तरिक पक्षों पर विवेचन विस्तार से किया और बाह्य पक्षों पर संक्षेप में। किन्तु अथर्व संहिता के अन्तर्गत व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य उभयपक्षों पर समान रूप से विचार किया गया है। वास्तव में अथर्ववेद के दृष्टा अथर्व, अङ्गिरस तथा भृगु आदि की एक उत्कृष्ट परम्परा रही है। अतः इस परम्परा की महत्ता को ध्यान में रखते हुए इसे ग्रन्थ-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करने का सुदृढ़ निश्चय किया गया। वैदिक साहित्य में जिज्ञासुओं ने वैदिक सभ्यता तथा संस्कृति के अध्ययन क्रम में ही अथर्ववेद संहिता का अध्ययन किया है। यद्यपि इस परम्परा के वैशिष्ट्यों से प्रभावित होकर न केवल भारतीय ही प्रत्युत् पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे अपनी साधना रूपी मार्ग का गन्तव्य बनाया है। तथापि कतिपय ऐसे दुरूह स्थल हैं जहाँ विद्वान इसकी परिधि को विस्तृत नहीं कर पाये हैं। ब्लूमफील्ड, व्हिटने, मैकडॉनल तथा ग्रिफिथ प्रभृति मनीषियों ने इसके महत्त्व को अवश्य समझा और स्वीकार किया, किन्तु उनके विचारों की नवीन पद्धति एतद् वेदीय व्याख्या प्रणाली को अक्षरशः क्रियान्वित नहीं कर सकी। अतः इस प्रबन्ध में सांस्कृतिक अध्ययन के अपेक्षित समस्त बिन्दुओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

प्रथम अध्याय परम्परा का पूर्वार्द्ध भाग है, जिसमें अथर्वाङ्गिरस शब्द का अर्थ, उत्पत्ति तथा उनके द्वारा स्थापित मान्यताओं की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय परम्परा का उत्तरार्द्ध भाग है, जिसमें परम्परा के क्षेत्र, स्थान, आदर-अनादर तथा परवर्ती साहित्य को प्रभावित करने के सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक विवेचन किया गया है। साथ ही याज्ञिक कृत्यों में आथर्वणिक पुरोहित, होता तथा अध्वर्यु के महत्त्व को निरूपित किया गया है।

तृतीय अध्याय में राजनीतिक विचार एवं संस्थाओं का निरूपण हुआ है। जिसमें

राजनीतिशास्त्र, राज्योत्पत्ति के सिद्धान्त तथा राज्य के कर्त्तव्यों को दिग्दर्शित करते हुए राजा, सभा, समिति, मन्त्रिमण्डल एवं शासन के विभिन्न प्रकारों की सविधि व्याख्या की गई है।

चतुर्थ अध्याय में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वर्णाश्रम, जाति, परिवार तथा विवाह की समीक्षा करते हुए समाज में स्त्रियों की दशा का आकलन किया गया है। यहाँ वस्त्राभूषण, भोजन तथा पेय व शिष्टाचार का व्याख्यान भी हुआ है।

पञ्चम अध्याय के अन्तर्गत धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन है। धर्म सम्बन्धी विभिन्न मान्यताओं की व्याख्या करते हुए देवों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। पूजा-पद्धति के अन्तर्गत यज्ञ का स्वरूप, विधान, ऋत्विज तथा यज्ञों का वर्गीकरण हुआ है। धार्मिक-जीवन से सम्बन्धित विभिन्न संस्कार तथा उपासनाएँ भी विस्तरसः उल्लिखित हैं।

षष्ठ अध्याय में आर्थिक मूल्यों की विवेचना की गई है। इसके अन्तर्गत कृषि के महत्त्व, कृषि के निमित्त पर्जन्य का आह्वान किया गया है। इसके अतिरिक्त, पशुपालन, व्यापार, पौरोहित्य जैसे कार्यों के द्वारा जीविका चलाने सम्बन्धी तथ्यों को उद्घाटित किया गया है।

सप्तम अध्याय के अन्तर्गत वैज्ञानिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में चर्चा की गई है। इस अध्याय में औषधि-विज्ञान के अतिरिक्त ज्योतिष के मूलभूत सिद्धान्तों पर भी दृष्टिपात किया गया है। नक्षत्रों के विभिन्न स्वरूप तथा उनकी स्थितियों के सम्बन्ध में विहङ्गावलोकन किया गया है।

अष्टम अध्याय में साहित्यिक-सिद्धान्तों की उपस्थापना की गई है। रस, इसी क्रम में शब्दविच्छित्ति, विभिन्न ध्वनियों, छन्द एवं अलङ्कारों का आकलन किया गया है तथा काव्य के विविध प्रकारों के औचित्य पर विवेचन प्रस्तुत है।

नवम अध्याय दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित करता है। इसके अन्तर्गत ब्रह्म, आत्मा, तप, माया, साधना, सदाचार तथा शान्ति की महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।

अन्त में उपसंहार है, जिसमें निबन्ध की उपलब्धियों का विवेचन करते हुए संक्षेप में इसकी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

इस ग्रन्थ में मूलतः अथर्ववेद तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों को ही आधार माना गया है। इसके प्रणयन में अथर्ववेदीय ग्रन्थों के मूल भाग को ही महत्त्व प्रदान करने की चेष्टा आद्योपान्त रही है। आधुनिक मतों के प्रस्तुतीकरण के लिए डॉ. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डॉ. सूर्यकान्त, विश्वबन्धु शास्त्री, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, बुद्धदेव विद्यालङ्कार, ए.एस. अल्तेकर, डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री, डॉ. राजबली पाण्डेय, आचार्य बलदेव उपाध्याय, डॉ. सुरेन्द्रनाथ शास्त्री प्रभृति विद्वान प्रमुख हैं।

इस परम्परा के कतिपय रहस्यों को उद्घाटित करते समय कुछ कठिनाइयाँ अवश्य उत्पन्न हुईं, किन्तु यथास्थान उनके समाधान का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग

में यह सर्वथा ध्यानेय विषय है कि मुझे शारीरिक बाधा के कारण इस प्रबन्ध को पूर्ण करने में और भी समस्याओं का सामना करना पड़ा है। बाल्यावस्था से ही दृष्टि-लाभ से वञ्चित-हो जाने के अनन्तर समयानुसार संस्कृत के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी समय अध्ययन कार्य को सम्पन्न करने के क्रम में मेरे मन में एक ऐसी आकांक्षा उत्पन्न हुई कि मैं भी अपने जीवन में किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर रचनात्मक कार्य में योगदान करूँ। अपनी शारीरिक असमर्थता के रहते यह विचार धराशायी होता प्रतीत हुआ, किन्तु मुझे अपने जीवन में कतिपय ऐसे गुरुजनों का सहवास, स्नेह एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप अपनी इस आकांक्षा को पूर्ण करने की ओर अग्रसर हो रहा हूँ।

जबलपुर विश्वविद्यालय में मेरे जीवन-निर्माता पूज्य डॉ. कृष्णकान्तजी चतुर्वेदी, साहित्याचार्य, सम्प्रति प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, ने मुझे शोध-कार्य करने की ओर प्रेरित किया तथा जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए उन्मुख किया। बाल्यावस्था से ही वेदों के प्रति आस्थावान रहा हूँ। मेरी इस भावना को पहचानते हुए पूज्य डॉ. चतुर्वेदी जी ने ''अथर्वाङ्गिरस-परम्परा एवं उसमें प्रतिपादित सांस्कृतिक मूल्य'' इस विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिए अभिप्रेरित किया। उन्होंने मेरे निर्देशक तथा गुरुत्व की गुरुता के भार को अपने कन्धों पर लेते हुए मुझे प्रत्येक परिस्थितियों में सहयोग देने का आश्वासन दिया। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करने से पूर्व उस औपनिषदिक मन्त्र का स्मरण करता हूँ जिसका अर्थ मेरे जीवन पर अक्षरशः घटित होता है–

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

इस प्रकार मैं अपने पूज्य गुरुवर के चरणों में अभिवादन करता हुआ, उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के प्रणयनकाल में सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. चन्द्रधर शर्मा, डॉ० दयाशङ्कर नाग, ने विषयगत दुरूहता को दूर करने एवं आर्थिक जीवन सम्बन्धी विषयों में योगदान प्रदान किया। इनके प्रति मैं विनम्रतापूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ। डॉ० विमल प्रकाश जी जैन, तत्कालीन अध्यक्ष, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, जबलपुर वि. वि., डॉ. राजेन्द्रकुमार त्रिवेदी, व्याख्याता, डॉ. चन्द्रभानु पाण्डेय, व्याकरणाचार्य व्याख्याता प्रभृति गुरुजनों ने समय-समय पर सहयोग देकर उपकृत किया है। मैं इन समस्त विद्वानों के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। विद्वत्प्रवर प्रातः स्मरणीय पूज्य स्वामी रामचन्द्रदासजी शास्त्री, महन्त नृसिंह मन्दिर, जबलपुर के चरणों में बैठ कर विषयगत अनेक गुत्थियों के समाधान का लाभ अनुसन्धाता को प्राप्त हुआ है। उनके चरणों में विनम्र अभिवादन करता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने अत्यन्त हितचिन्तक स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री मथुराप्रसाद

जी दुबे, आई.ए.एस. पूर्व आयुक्त, जबलपुर सम्भाग का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूं, जिन्होंने अपनी असीम कृपा के द्वारा इस प्रबन्ध की पूर्णता में उत्पन्न होने वाले व्याघातों को दूर करने में मुझे निरन्तर सहयोग प्रदान किया है। मैं माननीय श्रीयुत् उमाशङ्कर जी वाजपेयी, आयुक्त जबलपुर सम्भाग के प्रति हार्दिक रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके स्नेहाशीर्वाद से इस प्रबन्ध को पूर्ण करने की ओर उन्मुख हुआ हूं। श्रीयुत् आर. एस. नायडू, पूर्वकुलपति जबलपुर विश्वविद्यालय के आशीर्वाद से इस प्रबन्ध का प्रणयन पूर्ण हुआ।

अपने मित्रवर गोविन्द प्रसाद मिश्रा, भिक्षु मेधांकर जी, श्री प्रमोदकुमार अग्रवाल, आदि ने अंग्रेजी ग्रन्थों के अध्ययन में मुझे सहयोग प्रदान किया है, मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूं। जबलपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग के समस्त छात्र-छात्राओं विशेषकर श्री विष्णुमित्र त्रिपाठी, कुमारी छाया सप्रे, कु. ज्योति आठले, कु. सुधा सिसोदिया एवं अपने मित्रवर जयप्रकाश शुक्ल के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने यथासमय पुस्तकों के अध्ययन एवं टङ्कणगत अशुद्धियों के निवारण में सहयोग दिया है।

मैं अपने उन छात्रों का स्मरण करना चाहता हूँ जिनके लेखन सम्बन्धी सहयोग से इस प्रबन्ध को यथासमय पूर्ण कर सका हूँ। सर्वप्रथम मेरे अन्तःवासी प्रिय छात्र हरीराम रैदास ने अहर्निश अपने लेखन सम्बन्धी सहयोग से इस प्रबन्ध को पूर्ण कराने में अपने मनोयोग के साथ योगदान प्रदान किया है। मैं इनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हुआ यशस्वी एवं दीर्घायु जीवन के लिए आशीर्वाद देता हूँ। अन्य सहयोगी छात्रों वाचस्पति त्रिपाठी, नारायण प्रसाद विश्वकर्मा, केसरीप्रसाद चडार, कृष्णकुमार दुबे, जगतनारायण मिश्रा, बसोरीलाल साहू, विजय तिवारी आदि ने मुझे यथासमय पुस्तकों के अध्ययन तथा प्रबन्ध के लेखन कार्य में सहयोग प्रदान किया है। मैं इनके प्रति आभार प्रकट करते हुए इन्हें शुभाशीर्वाद देता हूँ।

मैं अपने मित्रवर श्री के.के. हूँका के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने टङ्कण अशुद्धियों को दूर करने में सहायता प्रदान की। साथ ही मैं जबलपुर वि. वि. के पुस्तकालय के ग्रन्थपाल एवं अन्य सहकर्मचारी गण का आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए मुझे पुस्तकों के आदान-प्रदान में सहयोग किया। मैं पुस्तकालय सरस्वती भवन बनारस, भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, प्राच्य विद्या शोध संस्थान जोधपुर, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान होशियारपुर, ग्रन्थागार, सागर वि. वि. के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपने सद्व्यवहार तथा पुस्तक प्रदान करने सम्बन्धी कार्य के लिए मुझे सहयोग प्रदान किया है। अन्य समस्त महानुभावों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस प्रबन्ध को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान किया।

उन समस्त विद्वानों के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी कृतियों का उपयोग प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से इस अभिनिबन्ध के सम्भरण में हुआ है।

यद्यपि मेरे इस ग्रन्थ पर सन् १९७८ में मुझे विद्यावाचस्पति की उपाधि प्रदान की जा चुकी थी तथा इसके अनन्तर इसका प्रकाशन हो जाना चाहिए था, किन्तु अपने जीवन की विविध शारीरिक एवं पारिवारिक कठिनाईयों के कारण मैं इसे वि. वि. अनुदान आयोग द्वारा निर्धारित की गई १० वर्षीय अवधि के मध्य प्रकाशित नहीं करा सका। इस अवधि व्यतिक्रमण के पश्चात् मेरे द्वारा आवेदन करने पर वि. वि. प्रकाशन विभाग की विशेष अनुशंसा के आधार पर केन्द्रीय वि. वि. अनुदान, आयोग नई दिल्ली के द्वारा मुझे विशेष अनुमति प्रदान की गई। फलस्वरूप वि. वि. के प्रकाशन विभाग ने मुझे इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग प्रदान किया। तदर्थ मैं रा. दु. वि. वि. के प्रकाशन विभाग तथा वि. वि. अनुदान आयोग, नई दिल्ली के प्रति हृदय से आभारी हूँ, जिनके सहयोग से मेरा यह कार्य सुगमतापूर्वक सम्पन्न हो सका।

वर्तमान में जब यह शोध-प्रबन्ध प्रकाशन की ओर उन्मुख है, तब इसमें कतिपय सुधारों एवं संक्षिप्तीकरण की नितान्त आवश्यकता थी। इस कार्य को सम्पन्न करने में मुझे मेरी अत्यन्त प्रिय शिष्या कु. (डॉ.) साधना जनसारी ने पूर्ण मनोयोग के साथ सहयोग प्रदान किया। इस हेतु मैं उसके प्रति अनेकशः आशीर्वाद प्रदान करते हुए आभार व्यक्त करता हूँ।

इस पुस्तक के मुद्रण विषयक त्रुटियों के शुद्धिकरण में मेरी अत्यन्त प्रिय शोध छात्राओं श्रीमती सुप्रिया बापट तथा कु. पूर्णिमा बाजपेई ने सहयोग प्रदान किया है। मैं उनके लिए कोटिशः आशीष तथा आभार व्यक्त करता हूँ।

विभिन्न स्थलों के लेखन आदि के सुधार में मेरे चिरंजीव प्रेम प्रकाश पुरोहित ने मनोयोग से सहायता की है एतदर्थ मैं इनके लिए भी मृदुल स्नेह तथा आशीष प्रदान करता हूँ।

मैं प्रतिभा प्रकाशन के संचालक प्रिय अनुज डॉ. राधेश्याम शुक्ल के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जो स्वयं एक संस्कृत के विद्वान हैं, आपने मेरी शारीरिक बाधा को समझते हुए इस पुस्तक के प्रकाशन में व्यक्तिगत रूप से रुचिपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

मोतीलाल पुरोहित

विषय-सूची

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

प्रथम अध्याय

अथर्वाङ्गिरस परम्परा : स्वरूप एवं विस्तार

वैदिक वाङ्मय का यह वैशिष्ट्य है कि उसमें जीवन के प्रत्येक पक्ष का विशुद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जीवन के द्विविध स्वरूप की कल्पना इस बात की परिचायक है कि संसार में कोई भी जीवन एक पक्ष पर आधारित न होकर उभयविद् मार्ग पर अवलम्बित होता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार सृष्टि का शुभारम्भ ही मुख्यतया अग्नि और जल से हुआ है। एक ओर जल का कार्य शीतलता प्रदान करना है, वहीं दूसरी ओर अग्नि का कार्य किसी भी वस्तु को दग्ध कर देना है। इसी प्रकार वैदिक विचारधारा के आराध्य देव रुद्र के भी दो स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। प्रथम शिव अर्थात् कल्याणकारक और द्वितीय रौद्र, जो कि एक भयानक रूप में संहारक स्वरूप में परिलक्षित होता है। अथर्वाङ्गिरस शब्द का किञ्चित् ऐसा ही विवेचन है।

अथर्वाङ्गिरस एक सामासिक शब्द है जो कि इसके उच्चारण से ही स्पष्ट हो जाता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इसके अथर्व तथा अङ्गिरस ये दो शब्द हमारे समक्ष आते हैं। अथर्वाङ्गिरस परम्परा के सम्मिलित विवेचन से पूर्व इन पदों का पृथक् स्पष्टीकरण करना आवश्यक है।

पृथक् विवेचन के क्रम में अथर्व शब्द का मूलतः प्रयोग शान्ति, कल्याण एवं जीवन के हितकारक विषय के सन्दर्भ में किया गया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति करने पर इसका निष्कर्ष इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है– "थर्व" धातु कौटिल्य तथा हिंसावाची है अतः अथर्व शब्द का अर्थ है अकुटिलता तथा अहिंसा वृत्ति से मन की स्थिरता प्राप्त करने वाला व्यक्ति। इस व्युत्पत्ति के पुष्टिकारक योग के प्रतिपादित अनेक प्रसङ्ग हैं। निरुक्तकार ने इस शब्द का अर्थ अन्य दृष्टि से किया है। उनके अनुसार निश्चलता, चित्तवृत्ति का निरोध करने से प्राप्त होने वाली मानसिक शान्ति अ-थर्व पद से सूचित होती है।[1] गोपथ ब्राह्मण में "अथ अर्वाक्" अर्थात् स्वयं में आत्मा को खोजो, यह व्युत्पत्ति प्राप्त होती है।[2]

आतर् शब्द वैदिक अथर का समानार्थक है, जो कि अथर-यु --"ज्वालायुक्त"

---

१. अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः। ऽथर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः। (निरुक्त दै. ११।२।१७)
२. अथ अर्वाग् एनं.........................तदर्थवऽभवत्। (गोपथ ब्रा. १।४)

(अग्नि) शब्द में भी आता है।[1] यह प्राचीन नाम किसी अर्ध दिव्य स्वरूप वाली पुरा पुरोहित जाति का बोधक रहा होगा, जो जाति आगे चलकर अपने नेता अथर्वा के नाम से स्थापित हुई।

तथापि इस शब्द का अर्थ ऋषिपरक मानना ही उचित होगा। पूर्व प्रस्तुत निरुक्त एवं गोपथ ब्राह्मण का अर्थ भी किसी गम्भीर दार्शनिक व कल्याणकारक ऋषि का बोध कराता है। इस आशय को प्रकट करने वाले अर्थ सम्बन्धी प्रमाण अथर्व वेद में विशेष रूप से प्राप्त होते हैं।[2]

पालि साहित्य में विचारकों ने इस शब्द के अर्थ को कुछ भिन्न रूप में ग्रहण किया है। वहाँ विद्वानों ने अथर्व शब्द के स्थान पर अत्थव, अट्ठक आदि शब्द रूपों को स्वीकार किया है। अट्ठक पाँच सौ बुद्धों में से एक हैं जो समय-समय पर इर्षीगिली पर्वत की गुफाओं में प्रवेश करता हुआ लोगों के द्वारा देखा गया है।[3]

अट्ठक दस वैदिक ऋषियों में से एक हैं जिनका उल्लेख पालि-साहित्य में वेदों के मन्त्रकर्त्ता ब्राह्मणों के रूप में आता है। कतिपय विचारक इस अट्ठक को विश्वामित्र ऋषि के पुत्र अष्टक के रूप में मानते हैं।[4]

कुछ विचारकों के मतानुसार ऋग्वेद के दशम मण्डल के कर्त्ता ऋषि अत्रि का नाम परिवर्तित होकर अपभ्रंश के अट्ठक रूप में आ गया है।[5] अट्ठक मन्त्रों के दृष्टा "त-विज्ज" (त्रिविधा) को जानने वाले ब्राह्मणों के गुरु के रूप में अधिष्ठित हैं।[6] इसी अट्ठक के द्वारा यज्ञों का प्रवर्तन किया गया है। उपर्युक्त अट्ठक शब्द के सम्बन्ध में प्रकट किये गये अर्थों में से अधिकांश अर्थ ऐसे हैं जो मूल अर्थ के साथ कदापि मेल नहीं खाते। विश्वामित्र ऋषि का पुत्र अष्टक मूल अथर्वा की विचारधारा का अनुयायी था।[7]

अत्रि के साथ इस नाम को जोड़ने का औचित्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि अत्रि स्वतन्त्र ऋषि तथा ऋग्वेदीय दशम मण्डल के कर्त्ता के रूप में आते हैं और अथर्वा भी उसी ऋग्वेद में स्वतंत्र रूप से अनेक मन्त्रों के दृष्टा के रूप में परिलक्षित हुए हैं। अतः अत्रि तथा अथर्वा को कुछ वर्णों की समानता के आधार पर एक मानने का भ्रामक मत स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

१. दूरे दृशं गृहपतिमथर्युम। (ऋ. ७।१।१)
२. मूर्धानमस्य संसीव्य अथर्वाहृदयं च यत............... पुरं यो ब्रह्मणों वेद यस्याः पुरुष उच्यते। (अथर्व. १०।२।२६-२८)
३. इषीगिली सूत्त मज्झिम निकाय
४. मोनियर विलियम्स संस्कृत इंग्लिश डिक्सनरी
५. एस. बी. इ. १७, पृ. १३०
६. दीघ निकाय अट्ठकथा भाग-१, पृ. २७३
७. शतपथ ब्राह्मण-भाग-१, पृ. ४५६

अथर्वा मन्त्रों के कर्त्ता, यज्ञों के निर्माता तथा ऋषि के रूप में अधिष्ठित हैं। अतएव ऋषि व मन्त्रकर्त्ता के अतिरिक्त किसी सामान्य अर्थ में सबके साथ इस शब्द को सम्बद्ध करना युक्ति-युक्त तथा तर्कसङ्गत प्रतीत नहीं होता।

यद्यपि ऋषियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक एवं पौराणिक मान्यताओं के मध्य मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता तथापि महर्षि अथर्वा की उत्पत्ति के विषय में वैदिक एवं पौराणिक तथ्यों के मध्य कुछ साम्य प्रतीत होता है। श्रीमद्‌भागवत, विष्णुपुराण एवं वायुपुराण के अनुसार महर्षि अथर्वा ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में स्थित हैं और इन्हीं के सहयोग से ब्रह्मा ने सृष्टि निर्माण कर्त्ता तथा वैदिक ऋचाओं के साक्षात्कारकर्त्ता दस प्रमुख ऋषियों की उत्पत्ति की। महर्षि अथर्वा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अन्य कथानक गोपथ ब्राह्मण में दृष्टव्य हैं[1] ब्रह्मा से उत्पन्न भृगु व अङ्गिरा में से भृगु को रहस्यमयी देववाणी सुनाई पड़ी, इससे उनका नाम अथर्वन पड़ गया। अङ्गिरस लोग ब्रह्मा के रस के रूप में हैं तथा अथर्वन् भेषज के रूप में हैं। जो भेषज है वह अमृत है और जो अमृत है वही ब्रह्म है।[2]

सुप्रसिद्ध विचारक ग्रिफिथ महोदय का भी यही मत है कि महर्षि अथर्वा प्राचीन ऋषि हैं जिन्होंने संघर्षण के द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया है। यज्ञों के माध्यम से उन्होंने देवताओं एवं मनुष्यों के मध्य नवीन सामञ्जस्य निर्मित करके महत्वपूर्ण योगदान दिया है। महर्षि अथर्वा उनके सहयोगी अङ्गिरा तथा भृगु के वंशजों को जिन मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ, उन मन्त्रों के संकलन को ही अथर्ववेद संहिता, भृग्वङ्गिरस वेद, अथर्वाङ्गिरस वेद तथा ब्रह्मवेद इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया। गोपथ ब्राह्मण का यह वाक्य[3] सुदृढ़ शब्दों में सम्पुष्टि करता है। महर्षि अथर्वा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह संक्षिप्त दृष्टि प्रस्थापित की गई। आगे उनसे सम्बन्धित क्रियाओं पर प्रकाश डाला जायेगा।

अथर्वा का स्वरूप

अथर्वा शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। तीन स्थानों पर यह बहुवचन में प्रयुक्त है। अथर्ववेद में इस नाम का बाहुल्य है। अथर्वा सामान्यतः पुरोहित के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि इन्होंने अपने प्रयासों के द्वारा पुष्कर को मथकर अग्नि को आविर्भूत किया है।[4] पुरोहितों का यज्ञों के अवसर पर मन्थन के द्वारा अग्नि को प्रकट करने का प्रमुख कार्य होता है।[5] इसीलिए पुरोहित के रूप में अथर्वा का वर्णन उचित एवं

---

१. अथर्ववम् एव एतद् स्वेदाय स्वन्विच्छ। (गोपथ ब्रा. १।४)
२. व एतद्वै भूयिष्टं ब्रह्मायद्............यदमृतं तद् ब्रह्मा। (गोपथ ब्राह्मण - ३।४)
३. श्रेष्ठो हि वेदस्तपसो.........हृदये सम्बभूव। (गोपथ ब्रा. १।६)
४. त्वामग्ने पुष्कराद्............विश्वस्य वाहतः। (ऋ. ६।१६।१३)
५. हममुत्यमथर्ववदग्निं..........वेधसः। (ऋ. ६।१५।१७)

तथ्यात्मक प्रतीत होता है। अथर्वा द्वारा निर्मित अग्नि ही विवस्वान के दूत के रूप में दृष्टव्य है।[१] अथर्वा यज्ञों के संस्थापक होने के कारण महानतम कर्मकाण्डी के रूप का प्रतिनिधित्व करते हैं।[२] इन्होंने ही यज्ञों के मार्ग को प्रशस्त कर सूर्य को प्रकट किया है।[३] अपने पिता मनु तथा पुत्र दध्यञ्च के साथ वे मन्त्रकर्त्ता के रूप में दृष्टिपथ के समक्ष प्रकट होते हैं।[४] जव इन्द्र ने अथर्वा का शिरोहरण किया और कूप में गिरें त्रित और मातरिश्वा पुत्र दध्यञ्च की सहायता की।[५] अथर्वा की तरह अज्ञानी को भस्म करने के निमित्त अग्नि का आह्वान किया गया।[६] अथर्ववेद में अथर्वा का किञ्चित् परिवर्तित रूप प्राप्त होता है। इन्द्र को सोमरस प्रदान करने तथा वरुण द्वारा प्रदत्त धेनु को ग्रहण करने के प्रसङ्ग में उल्लेख है।[७] इसके अतिरिक्त देवताओं के परम मित्र एवं स्वर्ग में उनके सहवासी के रूप में भी दृष्टव्य हैं।[८] प्राचीन गुरु के रूप में भी यत्र तत्र उल्लिखित हैं।[९] इनका प्राचीन गुरु रूप में वर्णन उनकी पृथक् व विशिष्ट परम्परा का द्योतक है।

कहीं-कहीं ये अङ्गिराओं, नवध्वों एवं भृगुओं के साथ पितरों के रूप में विद्यमान हैं।[१०] ये स्वर्ग निवासी देवता, वैद्य हैं तथा राक्षसों के हन्ता होने के कारण उग्र रूप में वर्णित हैं।[११]

ऋग्वेदीय कतिपय मन्त्रों में अथर्वा का अर्थ पुरोहित किया गया है। यह शब्द सूक्त रचयिता वृदद्दिव का विशेषण है।[१२] एक ऋषि द्वारा अथर्वा पर हविष गिराने के प्रसंङ्ग में यह अग्नि का विशेषण प्रतीत होता है।[१३]

उपर्युक्त विवेचन से अथर्वा के विविध रूपों का, अनेक विषयों के विशिष्ट ज्ञाता

---

१. अग्निर्जातो अथर्वणा .... विवस्वतः। (ऋ. १०।२१।५)
२. यज्ञैरथर्वा .... संचिकित्रिरे। (ऋ. १०।६२।१०)
३. यज्ञैरथर्वा प्रथमः .... आजनि। (ऋ. १।८३।५)
४. यामथर्वा .... उक्था समग्यत। (ऋ. १।८०।१६)
५ अहमिन्द्रोरोधो ...... दधीचं मातरिश्वने। (ऋ. १०।४८।२)
६ तदग्ने चक्षुः ..... धूर्वन्तमचितं न्योष। (ऋ. १०।८।१२)
७. अथर्वा पूर्ण ..... विभर्वाजिनीपते। (अथर्व. ५।१।१)
पृश्निं वरुण ..... मनसाचिकित्सीः। (अथर्व. १८।३।५४)
कः पृश्निं धेनुं ..... नित्यवत्साम्। (ऋ. ७।१०४।१)
८. यो अथर्वाणं ..... नमसाव च गच्छात्। (ऋ. ४।१।७)
९. दधीच आथर्वणाद् ..... देवादथर्वा। (शत. ब्रा. १४।५।५।२२)
१०. तेषां वयं ...... सोमनसे स्याम। (ऋ. १०।१४।६)
११. आदित्या रुद्रा ..... नो मञ्चन्त्वं हसः। (अथर्व. ११।६।१३)
त्वया पूर्वमथर्वाणां .... कण्वो अगस्त्यः। (अथर्व. ४।३७।१)
१२. इमां ब्रह्म वृहद्दिवो ..... स्वर्षाः। (ऋ. १०।१२०।८)
१३. आ नूनमश्विनौ ऋषिः .... सिञ्चादथर्वणि। (ऋ. ८।९।७)

व आविष्कारक होने का प्रमाण पुष्ट होता है। अथर्वा के वंश विस्तार के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न मत प्राप्त हैं। महर्षि अथर्वा के दध्यञ्च नामक पुत्र का उल्लेख प्राप्त होता है। पुराणों में दधीचि के नाम से प्रसिद्ध अथर्वापुत्र दध्यञ्च का नाम सर्वथा स्मरणीय है। इनकी अस्थियों के द्वारा इन्द्रादि देवताओं ने वज्र का निर्माण करके वृत्रासुर का संहार किया।[1] दध्यञ्च का ऋग्वेद के अन्तर्गत नौ स्थानों पर उल्लेख है। अग्नि को सिद्ध करने वाले ऋषि, प्राचीन याज्ञिकों के सहभागी रूप में दध्यञ्च का वर्णन प्राप्त होता है।[2] अश्विनों द्वारा अश्वसिर प्रदान करने पर दध्यञ्च ने त्वष्टा के मधु को प्रकट करके मधु विद्या का ज्ञान दिया।[3] दध्यञ्च के स्वरूप को प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा वाले अश्विनों का आख्यान भी वेद में प्राप्त है।[4] दध्यञ्च का सम्बन्ध यत्र तत्र सोम के गुह्य पद के साथ और गायों को मुक्ति देते हुए इन्द्र के साथ आता है। अश्व्य शीर्ष और दध्यञ्च नाम के कारण ही वे दधिका नामक अश्व से पृथक् नहीं हो पाये। दध्यञ्च शब्द का व्युत्पत्ति लब्ध अर्थ है– दधि की ओर जाने वाला, दधि वाला अथवा दधि का इच्छुक। बर्गेन के मतानुसार यह मूलतः सोम से अभिन्न है। तथापि दध्यञ्च के विषय में निश्चित निर्णय का पर्याप्त साधन नहीं है। काल्पनिक आधार पर कहा जा सकता है कि दध्यञ्च मूलतः अग्नि के वैद्युत रूप में प्रतीक होंगे। अश्व्य शीर्ष गति की क्षिप्रता का बोधक, वाणी स्तनयित्नु तथा हड्डियाँ वज्र की द्योतक होंगी। वेदान्तरकालीन साहित्य में यह नाम दधीचि के रूप में आता है। महाभारत में वृत्र वध के निमित्त वज्र का निर्माण दधीचि की अस्थियों से हुआ था।

प्राचीन वाङ्मय में अथर्वा के शिष्यों के विषय में प्राप्त वर्णन अत्यधिक विवादग्रस्त हैं। तथापि अथर्वा के उन कतिपय शिष्यों का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है जो कि अथर्व परम्परा के अनुयायी हैं तथा जिनके द्वारा अथर्व सिद्धान्त विविध शाखाओं व उपशाखाओं में प्रतिपादित हुआ है।

गोपथ ब्राह्मण एवं अन्यान्य ग्रन्थकारों के द्वारा प्रस्तुत अथर्वा-शिष्यों के नाम

---

१. एवं कृतव्यवसितो.....सन्नयज्जहौ। (श्रीमद्भागवत ६।१०।११)
   दध्यङ्डाथर्वणस्त्वष्ट्रे .... यत्त्वमवास्ततः। (श्रीमद्भागवत ६।९।५३)
   तथामियाचितो ..... प्रहसन्निव भारत। (श्रीमद्भागवत ६।१०।२)
२. तमुत्वा दध्यङ्ङृषिः पुत्र इधे अथर्वणः। (ऋ. ६।१६।१४)
   दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो ..... प्र यदीमुवाच। (ऋ. १।११६।१२)
   यामथर्वा ...... उक्था समग्मत। (ऋ. १।८०।१६) ऋ. १।१३९।९)
३. आथर्वणायाश्विना....वपिकक्ष्यं वाम। (ऋ. १।११७।२२)
   दध्यङ् ह .... प्र यदीमुवाच। (ऋ. १।११६।१२)
४. इन्द्रो दधीचो .... नवतीर्नव। (ऋ. १।८४।१३)
   इच्छन्नश्वस्य ...... विदच्छर्यणावति। (ऋ. १।८३।१४)

निम्नानुसार हैं–

१. काव्य (उशना, शुक्र)	२. प्रचेता
३. दध्यङ् (अथर्वण)	४. आप्नवान्
५. और्व (ऋचीक)	६. जमदग्नि
७. विद्	८. सारस्वत
९. अष्टिषेण	१०. च्यवन
११. वीतध्व्य	१२. सुमेधा
१३. वैन्यप्रथु	१४. दिवोदास
१५. बाह्यश्व	१६. गृत्स (मद्)
१७. शौनक	१८. पैप्पलाद
१९. तौदया, तौदायन	२०, मौद, मौदायन
२१. शौनकीय या शौनकिन	२२. जाजल
२३. जलद	२४. ब्रह्मवद
२५. देवदर्श या देवदर्शिन्	२६. चारण वैद्य

ये सभी महर्षि अथर्वा के अनुयायी शिष्य हैं। इस परम्परा के विस्तार में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। दो मान्यताओं को प्रश्रय दिया गया है। प्रथम मान्यता व्यक्ति के बाह्य एवं आन्तरिक कल्याण की दृष्टि से उपस्थापित की गई है और द्वितीय मनुष्य के विनाश के लिये। यहाँ अथर्वा ऋषि प्रतिपादित व्यक्ति के जीवनोपयोगी उन माङ्गलिक सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है जिनका उद्देश्य कल्याणकारक है।

अथर्वा द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्तों के अन्तर्गत विविध ऐहिक फल, शान्ति और पुष्टकर्म, राजकर्म, तुलापुरुष, महादानादि, पौरोहित्य और राज्याभिषेक आदि विषय का वर्णन है।[1]

इसके पश्चात् राजकर्म समुदाय कहा गया है। यथा-शत्रु हस्तित्रासन, संग्राम विजय साधन, इषुः निवारणार्थ खड्गादि सर्वशस्त्र निवारण, शत्रु पक्षी सेना सम्मोहन, उद्भेदन, स्तम्भन, उच्चाटन, सेना का उत्साहवर्धक अभय, रक्षा, संग्राम में जय-पराजय की परीक्षा, सेनापति प्रभृति प्रधान नायकों का जयकरण, शत्रुसेना के सञ्चरण प्रदेश में अभिमन्त्रित पाश, असि आदि का प्रहरण और प्रक्षेपण, रण क्षेत्र में अभिमन्त्रित भेरी, पटहादि वादित्र ताडन, राजा का स्वराष्ट्र प्रवेशोपाय और राज्याभिषेक। पापक्षय, निर्ऋति कर्म, चित्रा कर्मादि,

---

१. पौरोहित्य शान्तिक ..... ब्रह्मत्वं च। (विष्णुपुराण)
- शान्ति पुष्टयभिचारार्था ..... गौचराः। (भट्टाचार्य)
- अभिषिक्तोऽथर्व ...... ससागराम्। (मार्कण्डेयपुराण)
- पुरोहितं तथाऽऽथर्व ..... पारगम्। (मत्स्यपुराण)
- यस्य राज्ञो ..... समभिपूजयेत्। (अथर्व. परिशिष्ट ४।६)
- त्रयीयां च ..... शान्तिक पौष्टिकम्। (नीतिशास्त्र)

पौष्टिककर्म, गौ समृद्धि, कर्म, लक्ष्मीकर कार्य, पुष्टि निमित्त मणि बन्धनादि कृषि पुष्टिकर, गृह सम्पत्ति कार्य नवशाला निर्माण विषयक, वृषोत्सर्ग आग्रहायणीय कर्म, जन्मान्तर कृत पापजन्य, विविध दुःसाध्य रोगों की चिकित्सा, भूतप्रेत, पिशाच, अपस्मार, ब्रह्मराक्षस, बालग्रहादि निवारण, वात, पित्त, श्लेष्मा की औषध व्यवस्था, हृदरोग निवारण, सन्तत ज्वर, एकाह्रिकादि विषमज्वर, राजयक्ष्मा एवं जलोदर का निवारण, गाय, घोड़े आदि का कृमिहरण, कन्दमूल, सर्प, वृश्चिक प्रभृति स्थावर और जङ्गम विष निवारण, पुत्रादि काम, स्त्रीकर्म, सुखप्रसव कर्म, गर्भाधान कर्म, पुंसवनादि कर्म, सौभाग्यकरण, अभीष्ट सिद्धि विज्ञान, गौवंश विरोध निवारण, अश्वशान्ति, वास्तु संस्कार कर्म, गृहप्रवेश कर्म, दुःस्वप्न निवारण, अभिचारिकादि कर्म, आयुष्यकर्म, जातकर्म, नामकरण, उपनयनादि, एकाग्नि साध्य, कामभाग समूह। ब्रह्मौदन, स्वर्गौदनादि, द्वाविंशति सत्र, यज्ञ, विवाह, पितृमेधिक, कर्म, पिण्ड, पितृयज्ञ, मधुपर्क, यज्ञ राक्षसादि दर्शन, भूकम्प, धूमकेतु और चन्द्रार्कोपप्लवादि, बहुविध उत्पात शान्ति, अष्टाकर्म, इन्द्रमद व अध्ययन विधि यह समुदाय कौशिक सूत्र के अनुसार हुआ है। वैताल सूत्र में पूर्णमासादि कर्म के ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसि, आग्नीध और होता इन चार ऋत्विकों के कर्म की कर्त्तव्यता प्रतिपादित हुई है। इस विषय में यज्ञकर्म का क्रम वर्णित है। यथा–प्रथम दर्श पूर्णमास, तदनन्तर अग्न्याधान, अग्निहोत्र, यह क्रम दर्श पूर्णमास अयन पर समाप्त होता है।

नक्षत्र कल्प में पहले कृतिका आदि नक्षत्र की पूजा और होम है। तत्पश्चात् अद्भुत महाशान्ति, निर्ऋति कर्म अमृत से लेकर अभ्यर्थ पर्यन्त महाशान्ति के निमित्त भेद से तीस प्रकार के कर्म हैं। यथा– दिव्य, अन्तरिक्ष और भूलोक उत्पातों की अमृत नाम की महाशान्ति, गतायु के पुनर्जीवन प्राप्ति के लिए वैश्व देवी शान्ति, अग्निमय निर्वृत्ति हेतु एवं समस्त कामना प्राप्ति के लिए आग्नेयी महाशान्ति, नक्षत्र और ग्रह से भयार्त्त रोगी की रोगमुक्ति के लिए भार्गवी महाशान्ति आदि तीस विविध कर्म निमित्त हैं।

इस प्रकार अथर्व सिद्धान्तों के अन्तर्गत राजा, अधिकारी, सेना एवं सामान्य व्यक्ति के हित की दृष्टि से विभिन्न महत्वपूर्ण माङ्गलिक विषयों का उपस्थापन हुआ है। अतः अथर्वाङ्गिरस परम्परा के अथर्वा तथा अङ्गिरा परस्पर सामञ्जस्य रखते हुए भी एक दूसरे से भिन्न मतों के प्रमुख संस्थापक हैं। अथर्वा माङ्गिलक विषयों के पोषक हैं और अङ्गिरा घोर अभिचार सम्बन्धी विषयों के अधिष्ठाता हैं।

इस शब्द के अर्थ पर गवेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर विशेष निष्कर्ष हमारे समक्ष उपस्थित होता है। अङ्गिरस शब्द का अर्थ है अङ्गों का रस।[1] अङ्गों के रस का अभिप्राय है प्राण।[2] शरीर में विद्यमान विशेष प्रकार के जीवन-रस को ही अङ्गिरस नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह शब्द वेद की घातक अभिचारक क्रियाओं[3]

---

१. आङ्गिरस मन्यन्ते ..... यद् रसः। (छान्दो. १।२।१०)
- आङ्गिरसोऽङ्गनां हि रसः। (बृ. १।३।८)
२. प्राणो हि अङ्गानां रसः। (बृ. १।३।१९)
३. शतपथ ब्रा. १०।५।२।२०

को सूचित करता है जो भयंकर है।

अङ्गिरा शब्द अग्नि से निष्पन्न होने के कारण अग्नि की ज्वालाओं के रूप में दीप्यमान है। अग्नि का स्वरूप दाहक गुण के कारण विध्वंसी माना गया है। इसी कारण अङ्गिरस भी घोर अभिचार सम्बन्धी विनाशकारी तत्वों के रूप में परिलक्षित होते हैं। अङ्गिरस की उत्पत्ति समुद्र के क्षार जल से, उसके बाद वरुण से, जो कि निःसंदेह अपने विरल दानवीय अर्थ में प्रयुक्त है तथा अन्त में मृत्यु से इस कारण दिखाई गई है कि जिससे घोर अङ्गिरस के वेद का माङ्गलिक अथर्वन और आथर्वण वेद से वैपरीत्य दिखाया जा सके।

अङ्गिरस ऋषि से ब्रह्मा बीस अङ्गिरस ऋषियों को और उनके अङ्गिरस आर्षेयों को उत्पन्न करता है। आङ्गिरस वेद से जनत शब्द उत्पन्न होता है, जो वेद की व्याव्हृति है। सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न दस महर्षियों में महर्षि अङ्गिरा का तृतीय स्थान है।[1] अग्नि देवता ने अङ्गिरा को अपने प्रथम पुत्र के रूप में स्वीकार किया है। अंगिरा ने अग्नि के समान ही तेजस्वी बनने की प्रवल आकांक्षा से घोर तप करना आरम्भ किया और अपने तपोबल से ऋषि अङ्गिरा के समान प्रकाशित होने लगे।[2] उनके तेज से अग्नि का प्रकाश भी मलिन पड़ने लगा तब अग्निदेव ने कहा कि हे महर्षि! मैं अपने अग्नित्व के प्रकाश को आप में ही स्थापित करता हूँ। आप प्रथम अग्नि रूप में प्रतिष्ठित हों तथा मैं द्वितीय प्रजापति रूप में।[3] तब अङ्गिरा द्वारा निवेदन करने पर अग्नि ने उन्हें पुत्र रूप में स्वीकार किया।

अङ्गिरस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के ६० स्थलों पर दृष्टव्य है। दो तिहाई बार बहुवचन रूप में इसका प्रयोग है। अङ्गिरस के साथ निष्पन्न अथर्वा का उल्लेख भी ३० बार हुआ है। अङ्गिरा वर्ग की स्तुति में एक सम्पूर्ण सूक्त भी निर्मित है।[4] अङ्गिरस स्वर्ग में सूनु के रूप में स्थित है।[5] ये ऋषि तथा देवों के पुत्र के रूप में भी अधिष्ठित हैं।[6] कवि उन्हें पिता या पूर्व पिता कहकर पुकारते हैं।[7] पितरों के रूप में उनका उल्लेख अथर्वा और भृगुओं के साथ हुआ है।[8] विशेष रूप से उनका सम्बन्ध यम

---

१. पुलहो नामितो ..... अत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत्। (श्रीमद्भाग. ३।१२।२४)
२. पुराऽङ्गिरा .... सर्व व्यकाशयत्। (महाभारत-वनपर्व २१७।८)
३. तपश्चरंस्तु हुतभुक् ... प्र जज्ञिवान्। (महाभारत-वनपर्व-२१७।९)
निक्षिप्याम्यहमग्नित्वं ..... एव च। (महाभारत-वनपर्व-२१७-१६)
कुरु पुण्यं ...... प्रथमं पुत्र मज्जसा। (महाभारत-वनपर्व-२१७।१७)
४. ये यज्ञेन दक्षिणया .... मानवं सुमेधसः। (ऋग्वेद-१०।६२।१)
५. इमे भोजा ..... असुरस्य वीराः। (ऋग्वेद-३।५३।७)
६. अयं नामा ...... मानवं सुमेधसः। (ऋ. १०।६२।४)
७. य उवाजन् ..... परिवत्सरे बलम्। (ऋ. १०।६२।२)
वीलू चिद् ..... केतुमुस्त्राः। (ऋ. १।७१।२)
येना नः ...... गा अविन्दन्। (ऋ. - १।६२।२)
८. अङ्गिरसा नः .... सोम्यासः। (ऋ. १०।१४।६)
९. मातली कव्यैर्यमो .... विधानः। (ऋ. १०।१४।३, १०।१४।५)

के साथ[1] तथा सामान्य रूप से आदित्य, वसु, मरुत अथवा आदित्य, रुद्र, वसु और अथर्वा के साथ है।[1] वे ब्रह्मा नाम के पुरोहित हैं।[2] वनस्पति में निहत 'शीर' अग्नि के प्राप्तकर्त्ता हैं।[3] ऋजु मार्ग पर चलकर यज्ञ के प्रथम वामन् का मनन किया है।[4] यज्ञ के द्वारा अमृतत्त्व व इन्द्र की मित्रता प्राप्त हुई।[5] उनके लिए इन्द्र ने गौत्र अनावृत्त किये, गायों को बाहर निकाला, बल को मार गिराया।[6] अङ्गिरा का नेता होने के कारण इन्द्र अङ्गिरस्त[7] कहलाये। उन्होंने अन्धकार का नाश करके पृथिवी को विस्तार प्रदान किया और निचले लोक को स्थापित किया।[8] यथार्थ पुरोहितों द्वारा इन्द्र के निमित्त कहे गये सूक्तों की तुलना अङ्गिरस के सूक्तों से की गई है।[9]

बृहस्पति द्वारा गौओं को छुड़ाने तथा इन्द्र के साथ सलिलों को प्रवाहित करने के प्रसङ्ग में बृहस्पति को अङ्गिरा की संज्ञा दी गई है।[10] एकवचन में प्रयुक्त अङ्गिरस शब्द प्रायः अग्नि का द्योतक है। प्राचीन पुरोहित का बोधक होने पर अग्नि से सम्बन्ध नहीं रखता। ऋग्वेद अनुक्रमणी में प्राप्त परम्परानुसार यह हो सकता है कि अङ्गिरसों को यथार्थ पुरोहित कुल का माना जाता रहा हो क्योंकि नवम मण्डल इन्हीं ऋषियों द्वारा रचित है।

उपर्युक्त दृष्टान्तों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अङ्गिरस मूलतः देवताओं और मनुष्यों के मध्य का कोई अभिजात वर्ग होगा। वे स्वर्ग की दूत-अग्नि ज्वालाओं के मानवीकरण रहे हों। इसी प्रकार इस शब्द की निष्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि दूतवाचक ग्रीक शब्द "अङ्गिम अङ्गलोस" के साथ तादात्म्य प्रत्यक्ष है। वेबर के मत में अङ्गिरस मूलतः भारत-ईरानी काल के पुरोहित थे।

अङ्गिरा की सन्तति इस प्रकार वर्णित है–अङ्गिरा की धर्मपत्नी "स्वधा" और इससे

---

१. दधिक्रावा .... वसुभिरङ्गिरोभिः। (ऋ. ७।४४।४)
   अङ्गिरस्वन्ता ... आदित्यैयतिमश्विना। (ऋ. ८।३५।१४)
   आदित्या रुद्रा ... मुञ्चन्त्वं हसः। (अथर्व. ११।६।१३)
२. प्र ब्रह्माणो ... मन्यस्य वेतु। (ऋ. ७।४२।१)
३. त्वामग्ने ... वने वने। (ऋ. ५।११।६)
४. ऋतं शं सन्त ... प्रथमं मनन्त। (ऋ. १७।७।२)
५. ये यज्ञेन ... मानवं सुमेधसः। (ऋ. १०।६२।१)
६. त्वं गोत्रमङ्गिरोभ्यो ... गातुवित्। (ऋ. १।५१।३)
   उद्गा ... नुनुदे बलम्। (ऋ. ८।१४।८)
   भिनद् बलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान्। (ऋ. २।११।२०)
७. सो अङ्गिरोभिरङ्गिरसस्तमो ... अङ्गिरसस्तमः। (ऋ. १।१३०।३)
८. गृणानो ... उपरमस्तमायः। (ऋ. १।६२।५)
९. प्र मन्मते ... अङ्गिरस्वत्। (ऋ. १।६२।१)
१०. गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरा। (२।२३।१८)

अथर्वाङ्गिरस नामक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ।[१] अन्य प्रमाणानुसार ब्रह्मा के तृतीय पुत्र महर्षि अङ्गिरा की पत्नी "सुभा" से अङ्गिरा सन्तति का विस्तार हुआ है।[२] अङ्गिरा पुत्रों के नाम वाङ्मय तथा पुराणों में इस प्रकार हैं–

१. विन्दु २. बृहन्मति ३. प्रभुवसु ४. अमहीयु ५. बृहस्पति ६. पवित्र ७. हिरण्यस्तूप ८. हरिमन्त ९. कण्व १०. कुत्स ११. शिशु १२. उतथ्य १३. हविधनि १४. कृष्ण १५. अयास्य १६. वरू १७. दिव्य १८. भिक्षु १९. विहव्य २०. प्रचेता २१. संवर्त २२. ध्रुव २३. अभीवर्त २४. सव्य २५. घोर २६. अपव्य वरुण २७. वीतध्व्य २८. प्रियमेव २९. वैयस्व (विश्वमना) ३०. विरूप ३१. नमेध ३२. तिरश्वी।

अङ्गिरा के सात पुत्र प्रभावशाली होने के साथ ही पुष्ट विचारक हैं। ये हैं–१. वृहत्कीर्ति २. वृहज्ज्योति ३. वृहद्ब्रह्मा ४. वृहन्मना ५. वृहन्मन्त्र ६. वृहद्भास ७. वृहस्पति।[३]

अङ्गिरा की कन्याओं का भी आंशिक विस्तार हुआ है। महर्षि की प्रथम पुत्री "भानुमती है", इसे दिन की अभिमानिनी कहा गया है। यह सूर्य के प्रकाश से युक्त है।[४] द्वितीय कन्या "रागा", रात्रि की अभिमानिनी है। समस्त प्राणियों का अनुराग इस पर उत्पन्न होता है।[५] तृतीय पुत्री "सिनीवाली" अत्यन्त कृश होने के कारण कभी दिखती है, कभी नहीं, अतः यह "दृश्यादृश्या" कहलाती है। भगवान् "रुद्र" द्वारा ललाट में धारण किये जाने के कारण "रुद्रसुता" भी कहा गया है।[६] चतुर्थ पुत्री "अर्चिष्मती" है। पाँचवी कन्या "हविष्मती" के सानिध्य में हविष्य द्वारा देवताओं का यजन किया गया है। षष्ठ पुण्यात्मा कन्या "महीष्मती"[७] तथा सप्तम दीप्तिशाली सोमयाग आदि में प्रकाशित होने के कारण 'महामती' नाम से विख्यात है।[८] अष्टम कन्या "कुहू" नाम से प्रसिद्ध है।[९] "शाश्वती" नामक जिस कन्या का उल्लेख मिलता है, वह मन्त्रदर्शिका ऋषिपुत्री के रूप में प्रसिद्ध है।[१०]

अङ्गिरा को अग्नि के साथ विशेष रूप से सम्बद्ध किया गया है। सर्वविदित तथ्य यह है कि भारतीय संस्कारों में अग्नि मनुष्यों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। महर्षि

---

१. प्रजापतेरङ्गिरसः ... सती। (श्रीमद्भागवत - ६।६।१९)
२. ब्रह्मणो ... च मे शृणु। (महाभारत - वनपर्व - २१८।१)
३. बृहत्कीर्तिर्बृहज्ज्योति ... बृहस्पतिः। (महाभारत-वनपर्व - २१८।२)
४. प्रजासु तासु ... प्रथमाङ्गिरसः सुताः। (महाभारत-वनपर्व-२१८।३)
५. भूतानामेव ... द्वितीयाङ्गिरसः सुता। (महाभारत-वनपर्व-२१८।४)
६. यां कपर्दिसुता ... तृतीयाङ्गिरसः सुता। (महाभारत-वनपर्व-२१८।५)
७. पश्यत्यार्चिष्मती ... महिष्मतीम्। (महाभारत-वनपर्व-२१८।६)
८. महामतेष्वाङ्गिरसी ... कथयत् सुता। (महाभारत-वनपर्व-२१८।७)
९. यां तु दृष्ट्वा ... सुताम्। (महाभारत-वनपर्व-२१८।८)
१०. ऋग्वेदः एक ऐतिहासिक दृष्टि

अङ्गिरा अग्नि रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा उनसे उत्पन्न वृहस्पति अग्नि के प्रकाश रूप में परिलक्षित होते हैं।[1]

अग्नि स्वरूप वृहस्पति के पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार है– वृहस्पति की पत्नी चान्द्रमसी" (तारा) से छः पुत्र व एक पुत्री का जन्म हुआ।[2] दर्श पौर्णमास आदि में जिस अग्नि के लिए प्रथम आहुति दी जाती है, वह महान् व्रतधारी अग्नि ही वृहस्पति का "शंयु" नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुत्र है।[3] चतुर्मास सम्बन्धी यज्ञों तथा अश्वमेध यज्ञ में पूजित अग्नि ही "शंयु" है।[4] अत्यन्त रूप तथा गुणों से युक्त "सत्या" नामक पत्नी से शंयु का अग्निरूप एक पुत्र तथा उत्तम व्रत पालनकर्त्री तीन पुत्रियों का जन्म हुआ।[5] यज्ञ में प्रथम आज्यभाग द्वारा पूजित भरद्वाज अग्नि शंयु का पुत्र बताया गया है।[6] समस्त पौर्णमास यागों में जिसे प्रथमाधार अर्पित किया जाता है, वह भरत अग्नि शंयु का द्वितीय पुत्र है।[7] इसका जन्म शंयु की दूसरी पत्नी से हुआ ऐसी मान्यता है। शंयु की उपर्युक्त वर्णित तीन कन्याओं का पोषण भरत द्वारा ही हुआ है। भरत के "भरत" नामवाला ही एक पुत्र एवं "भरती" नाम की कन्या हुई।[8] सर्वपोषक प्रजापति भरत अग्नि से पावक की उत्पत्ति हुई। वह पूज्य होने के कारण महान् कहा गया है।[9] भरद्वाज की पत्नी "वीरा" ने वीर नामक पुत्र को जन्म दिया। इसकी पूजा आज्यभाग से होती है। इन्हें आहुति प्रदान करते समय मन्त्र का उपाङ्ग उच्चारण किया जाता है।[10] इन्हें रथप्रभु, रथध्वान और कुम्भरेता भी कहते हैं[11] वीर की 'सरयू' नाम वाली पत्नी से 'सिद्धि' नामक पुत्र हुआ। आख्यान मन्त्र में इसकी स्तुति की जाती है।[12] निश्च्यवन वृहस्पति का द्वितीय पुत्र है। यह यश, तेज व कान्ति से युक्त है और

---

१. वृहस्पतिः प्रथमं ... तमांसि। (ऋ. ४।५०।४)
   अनर्वाणं वृषभं ... मतौः। (ऋ. १।१९०।१)
   अरायय॑ ... दृषन्निहि। (ऋ. १०।१५५।२)
   सा वेधसं ... वर्णमरुणं सपेम। (ऋ. ५।४३।१२)
   स हि शुचिः ... स्वर्षा। (ऋ.-७।९७।७)
   शुचिसर्केबृहस्पतिमध्वरेषु नमस्यत्। (ऋ. ३।६२।५)
   शुचिकन्दं ... मनर्वाणं हुवेम। (ऋ.-७।९७।५)
२. बृहस्पतेश्वा ... चापि पुत्रिकाम्। (महाभारत-वनपर्व-२१९।१)
३. आहुतिष्वेव ... महाव्रतः। (उपर्युक्त-२१९।२)
४. चातुर्मास्येषु ... वीर्यवान्। (वही-२१९।३)
५. शंयोरपतिमा ... कन्याश्च सुव्रता। (वही-२१९।४)
६. प्रथमेनाज्यभागेन ... पुत्र उच्यते। (वही-२१९।५)
७. पौर्णमासेषु ... शंयुतः सुतः। (वही - २१९।६)
८. तिस्रः कन्या ... च पुत्रिका। (वही- २१९।७)
९. भरतो भरतस्याग्ने ... भरत सत्तम्। (वही - २१९।८)
१०. भरद्वाजस्य ... द्विजाः शनैः। (वही - २१९।९)
११. हिविषा यो ... य उच्यते। (वही - २१९।१०)
१२. सर्यवां जनयत् ... हयेष सूयते। (वही - २१९।११)

पृथ्वी की स्तुति करता है।[1] उनका पुत्र सत्य नामधारी अग्नि है। यह निष्पाप तथा कालधर्म प्रवर्तक है।[2] सत्य का पुत्र 'स्वन' है। यह रोगकारक अग्नि है।[3] तृतीय पुत्र "विश्वजति" सम्पूर्ण विश्व की बुद्धि को अपने वश में करके स्थित हैं।[4] समस्त प्राणियों के उदर में स्थित "विश्वभुक्" अग्नि वृहस्पति के चौथे पुत्र हैं।[5] गोमती नामक नदी इनकी पत्नी कही गई है। सम्पूर्ण कर्मों का अनुष्ठान इसी अग्नि में होता है।[6] वडवानल रूप से समुद्र का जल सोखने वाले शरीर के भीतर ऊर्ध्वगति "उदान" नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊपर की गति होने के कारण "ऊर्ध्वभाक्" है। ये प्राणवायु के आश्रित, त्रिकालदर्शी वृहस्पति के पाँचवे पुत्र हैं।[7] उत्तराभिमुख प्रवाहवाली धृतधारा अभीष्ट मनोरथ पूरक है। यह 'स्विष्टकृत' वृहस्पति का षष्ठ पुत्र है।[8] अग्नि स्वरूप वृहस्पति के क्रोध के परिणामस्वरूप उनके शरीर से निकला स्वेद पुत्री रूप में परिणित हो गया। वह "स्वाहा" नाम से प्रसिद्ध हुई।[9] अत्यन्त रूपवान पुत्र को देवताओं ने "कामाग्नि" कहा।[10] शत्रुओं का नाशक अमोघ अग्नि है।[11] त्रिविध उक्थ मन्त्रों द्वारा स्तुत्य अग्नि का नाम "उक्थ" है।[12]

अङ्गिरा द्वारा अभिचार सम्बन्धी सिद्धान्तों में प्रशस्त भयावह मार्ग विनाशक तत्त्वों से परिपूर्ण है, अतः उनके लिए यत्र-तत्र घोर शब्द प्रयुक्त हुआ है। अङ्गिरस ने अपने सिद्धान्तों में सपत्नबाधन, नैर्बाध, विनाशन, पीडन, मारण, वशीकरण, विद्वेषण, मोहन, स्तम्भन, चेतन तथा उच्चाटन इनका अभिचार के विविध विभागों में वर्णन करते हुए वर्गीकरण किया है। दानवीय अभिचारों के माध्यम से राक्षसों व पिशाचों को प्रकट करने की प्रक्रिया निरूपित है।[13] परिवार स्थापना में ग्रह्याग्नि प्रदान करते समय क्रव्याद् अग्नि को शीशा, बेंत, काली मेंड, सेभ आदि दिया जाता है।[14] विष्कन्ध नामक दानव या रोग को ३, ६ में विशिष्ट रक्षायन्त्रों द्वारा, जिन्हें कौशिक सूत्र में "अरत्नु" पौधे से निर्मित कहा गया है, इसे भूरे

---

१. यस्तु न ... स्तोति केवलम्। (वही- २१६।१२)
२. वि पाप्मा ... समयधर्मकृत। (महाभारत-वनपर्व-२१६।१३)
३. आक्रोशतां हि ... शोभयत्यभि सेविते। (वही-२१६।१४)
अनु कूजन्ति ... स रुजस्करः। (वही-२१६।१५)
४. यस्तु विश्वस्य ... पावकम्। (वही - २१६।१६)
५. अन्तराग्निः ... सर्वलोकेषु भारत। (वही-२१६।१७)
६. पवित्रा गोमती ... धर्मकर्तृभिः। (वही-२१६।१६)
७. वडवाग्निः ... प्राणाश्रितस्तु यः। (वही - २१६।२०)
८. उदग्द्वारं हविर्यस्य ... परमः स्मृतः। (वही - २१६।२१
९. यः प्रशान्तेषु ... सर्वभूतेषु तिष्ठति। (वही - २१६।२२)
१०. त्रिदिवे यस्य ... कामस्तु पावकः। (वही-२१६।२३)
११. स हर्षाद् धारयन् ... अमोघो नाम पावकः। (वही - २१६।२४)
१२. उक्थो नाम ... हि यं विदुः। (वही - २१६।२५)
१३. येऽमावास्यां रात्रिमुदस्थुर्व्रा जमत्रिणः। (अ. १।१६।१, ए. बी. आदि)
१४. यद्यग्नियां ... शुक्त्यामाषप्रिष्टनि जुहोति। (कौ. सू.-७१।६)

धागे से बांधकर कीलने का विधान वर्णित है।[1] दानवों को प्रकट होने के लिए बाध्य करने वाला यन्त्र ''सर्दपुष्पा'' नामक औषधि से बनाया जाता है।[2]

जिस प्रकार अथर्व माङ्गलिक सिद्धान्तों के कतिपय समर्थक शिष्यों के नाम ऊपर वर्णित है, उसी प्रकार अङ्गिरा समर्थक शिष्यों के नाम भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। ये नाम हैं–

१. अङ्गिरा २. त्रित ३. भरद्वाज (वाष्कलि) ४. ऋतवाक् ५. गर्ग ६. शिनि ७. सकृति ८. गुरुवीत ६. मान्धाता १०. अम्बरीष ११. युवनश्च १२. पुरुकुत्स १३. त्रसदस्यु १४. सदस्युमान १५. अहार्य १६. अनमीढ १७. ऋषभ १८. कपि १६. प्रषदश्च २०. विरूप २१. कण्व २२. मुद्गल २३. उतथ्य २४. शरदवान, २५. वाजश्रवा, २६. अयास्य, २७. सुवित्ति २८. वामदेव २६. असिज ३०. बृहदुत्थ ३१. दीर्घतमा ३२. कक्षीवान्।

अङ्गिरस की परम्परा के क्रम को आगे बढ़ाने वाले शिष्यों के नाम से गोत्रों का प्रवर्तन हुआ है। कतिपय की गणना वैदिक मन्त्रदृष्टा रूप में है।

अथर्वन और अङ्गिरस के बीच परस्पर भेद

इन दोनों शब्दों के भेद को निरूपित करते समय अथर्वन और इससे व्युत्पन्न हुए शब्दों के विषय में हम देखते हैं कि पूरे साहित्य में यह अधिक संख्या में प्रयुक्त हुए हैं जबकि अङ्गिरस शब्द मात्र एक ही वैदिक अनुच्छेद में चतुर्थवेद के अभिधान के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3] अधिकांश स्थलों, विशेषकर पूर्वसाहित्य में अथर्वन शब्द का तात्पर्य माङ्गलिक विधानों से है।[4] आङ्गिरस शब्द वेद की घातक अभिचारिक क्रियाओं को सूचित करता है।[5] इन दोनों ही शब्दों के स्वरूपों का चित्रण गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट तथा सरल रूप में प्राप्त होता है। अथर्वन शान्त के लिए ''ओम्'' और अङ्गिरस घोर के लिए ''जनत'' इस व्याहृति का प्रयोग करता है।[6] त्रयी की व्याहृतियाँ 'ओम्' और 'जनत' के मध्य रक्षा हेतु स्थापित की गई हैं।[7] याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त वनस्पति भी आथर्वण व आङ्गिरस कही गई है।[8] अथर्ववेद का पञ्चम कल्प आङ्गिरस अभिचार एवं विधान कल्प नाम से प्रसिद्ध है। आङ्गिरस आभिचारिक और प्रत्याङ्गिरस शब्दों का प्रयोग प्रत्याभिचरण अर्थ में अथर्ववेद से बाहर के विधान ग्रन्थों में हुआ है।[9] आश्वलायन श्रौत सूत्र और शाङ्खायन श्रौत सूत्र के अनुसार भेषजम् (शान्त)

---

१. कर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता। (अ. ३।६।१, ए. बी.)
२. आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति। (अ.- ४।२०।१, ए.बी.)
३. अङ्गिरोभ्यः स्वाहा। (तै. सं.-७।५।११।२)
४. यज्ञं ब्रमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। (अ.-११।६।४)
५. तमेतमग्निरित्यध्वर्यव ... यातुविद एतेन। (शत. ब्रा.-१०।५।२।२०)
६. ओमित्यथर्वणं ... दक्षिणाग्नौ जुहुयात्। (गो. ब्रा.-१।२।२४, १।३।३)
७. विश्वेदेवा होत्रका ... गोप्तारस्तं ह। (गो. ब्रा.-१।१।१३)
८. शंयुमाथर्वणं ... अङ्गिरसीभिश्च चातनैः। (गो. ब्रा.-१।२।१८)
६. तस्याभिचरतः ... तत्प्रतिवाधते। (ऋग्विधान - ४।४०)

का पाठ आथर्वणवेद से और घोरम् (आभिचारिक) का पाठ आङ्गिरसवेद से करना चाहिए।[१] अथर्व संहिता आङ्गिरस शब्द को स्पष्ट रूप से विनाशक यातु क्रियाओं और आभिचारिक कृत्या के साथ जोड़ती है। आथर्वणिक और आङ्गिरस वनस्पतियों का पारस्परिक भेद अथर्ववेद में दृष्टिगोचर होता है।[२] अथर्वणों की तुलना में अङ्गिरसों के भयावह स्वरूप का समाधान ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[३] विविध उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार बृहस्पति आङ्गिरस अभिचार के देवता रूप में दृष्टिगोचर होते हैं।[४] महाभारत में वे "अङ्गिरसा श्रेष्ठः" नाम से प्रसिद्ध हुए। अथर्वन तथा अङ्गिरस के मध्य भेद के विषय में यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि जब अथर्वन अर्थात् माङ्गलिक, शान्त विचारधारा का अभ्युदय हुआ, तब उसके विपरीत अमङ्गल सूचक अङ्गिरस की अभिचारिक भावना का उदय हुआ हो।

महर्षि अथर्वा एवं अङ्गिरा के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही वैयक्तिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से एक-दूसरे से पर्याप्त दूर हैं। एक ओर अथर्वा की पत्नी शान्ति, उसका पुत्र दध्यञ्च, उनके माङ्गलिक एवं कल्याणकारक सिद्धान्त तथा उन सिद्धान्तों के अनुयायी, दूसरी ओर अङ्गिरा की पत्नी सुभा, पुत्र वृहस्पति व घोर अभिचार सम्बन्धी सिद्धान्त और उनके समर्थक।

इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों के होते हुए भी उभय ऋषियों के बीच घनिष्ठता एवं मतैक्य परिलक्षित होता है। अथर्वा व अङ्गिरा की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष प्रकट होता है। जो दोनों ही ऋषियों के परस्पर सम्बन्ध की ओर इङ्गित करता है। अथर्वा द्वारा ही अङ्गिरा की उत्पत्ति हुई है। इन दोनों के मध्य जन्य-जनक सम्बन्ध है। जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में सात्विक एवं तामसिक दो भिन्न विचाधाराएं होती हैं, जल के मधुर व क्षार दो गुण हैं, पृथ्वी से पोषक तथा विनाशकारी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार गुणों के आधार से भिन्न वस्तुओं में भी ऐक्य रहता है। यथा- अग्नि द्वारा यज्ञ जैसे माङ्गलिक कार्य सम्पन्न होते हैं, वहीं प्राणरहित शवों का दहन कार्य भी होता है। अतः परम्परा के मूल आविष्टकारक अथर्वाङ्गिरस ही माने जाते हैं। सामसिक दृष्टि से अथर्वन तथा अङ्गिरस में दृष्टव्य भेद कालवशात दूर हो गया और वे एकाकार हो गये। अन्त में अथर्वन नाम और इससे व्युत्पन्न शब्द अथर्वाणः आथर्वणानि आर्थवणाः आथर्वणिक। अथर्वन– अथर्वा और अन्ततः अथर्ववेद के अनुष्ठानों और अभिचारों के लिए प्रयुक्त होने लगे। इसके पश्चात् अथर्वाङ्गिरस परम्परा का उदय हुआ।

---

१. भेषजं वा आथर्वणानि भेषजमेव तत्करोति। (पञ्च. ब्रा.-१२।९।१०, १६।१०।१०)
२. आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुपदासय। (ऋ.-१०।१०८।१०)
३. नाहं वेद भ्रातृत्वं ... पणयो वरीधः। (ऋ.-१०।१०८।१०)
४. बृहस्पतिराङ्गिरसो ... आङ्गिरसाय स्वाहा। (कौ. सू.-१३५।१)

अथर्वाङ्गिरस नाम के अन्य प्रमाण

अथर्वाङ्गिरस शब्द का उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थों में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यह अथर्ववेद का प्राचीनतम नाम है और इसका प्रमाण अथर्ववेद में ही प्राप्त होता है।[1] यह नाम शौनकीय संहिता की हस्तलिपि के प्रारम्भ में मिलता है। महाभारत में दो स्थलों पर इसका उल्लेख है।[2] एक स्थान पर बौधायन ने भी इसका प्रयोग किया है।[3] याज्ञवल्क्य भी अपनी स्मृति में इनका सादर स्मरण करते हैं[4] मनुस्मृति में इसका उल्लेख विशिष्ट रूप से हुआ है।[5] श्रीमद्भागवत में अथर्वाङ्गिरस के उत्पत्ति प्रसङ्ग में इस पद का प्रस्फुटन हुआ है।[6]

उपर्युक्त स्थलों में अथर्वाङ्गिरस पद के एकीकृत रूप का प्रयोग हुआ है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि अथर्ववेद की किसी भी विधा का प्रयोग करने वाले ग्रन्थकार अथर्वाङ्गिरस को एक ही रूप में स्वीकार करते हैं।

वैदिक वाङ्मय का वृहद् अवलोकन करने से कई तथ्य उद्घाटित होते हैं। प्राचीन समय में तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार चारों वेदों के अन्तर्गत प्रथमतया "त्रयी" रूप में ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद को ही विशेष महत्त्व दिया गया और अथर्ववेद व उसके ऋषियों को उपयुक्त महत्त्व नहीं मिल पाया। इसका मूल कारण है वेदत्रयी की विचारधारा में व्यक्ति के एकाङ्गी जीवन पर प्रकाश डाला गया। जीवन के बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष पर विशेष बल दिया गया। अथर्ववेदीय ऋषियों ने व्यक्ति के कल्याण की दृष्टि से जीवन के उभयपक्षीय मार्ग हेतु विधान किये। इस कारण अथर्ववेदीय ऋषियों को अपने समकालीन ऋषियों के विरोधों का सामना करना पड़ा। किन्तु शनैः-शनैः व्यक्ति, उनकी विचारधारा तथा मान्यताएँ परिवर्तित होती गईं जिन्हें प्रारम्भ में अस्वीकार किया गया। समय व्यतीत होने पर उन नवीन मान्यताओं को प्रश्रय मिला। परिणामस्वरूप "त्रयी" के साथ अथर्ववेद का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ तथा विचारकों ने 'चत्वारो वेदो' का प्रयोग किया। अथर्ववेद के प्रमुख ऋषि अथर्वाङ्गिरस महर्षि होने के साथ अग्नि स्वरूप देवता रूप में प्रतिष्ठित हुए। पुराणों में प्राप्त प्रसङ्गानुसार समुद्र में विलीन अग्नि को खोजने का प्रयत्न देवताओं द्वारा किया गया। तब अग्नि ने अथर्वा से अग्नित्व का दायित्व स्वीकार कर देवताओं के लिए

---

१. यस्मादृचो ... कतमः स्विदेव सः। (अ.-१०।७।२०)
२. अथर्वाङ्गिरसि श्रुतम्। कृत्याम् अथर्वाङ्गिरसीम्। (महा.-३।३०५।२०, ८।४०।३३)
३. अथर्वाङ्गिरसं तर्पयामि। (बौधा. धर्मसूत्र-२।५।६।१४)
४. कुशलमथर्वाङ्गिरसे। (याज्ञवल्क्य-१।३१२)
५. श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः...तेन हन्यादरीन द्विजः। (मनु.-३)
६. प्रजापतेरङ्गिरसः ... चाकरोत् सती। (श्रीमद्भाग.-६।६।१९)

हविष्य पहुँचाने का अनुरोध किया।[1] वर्तमानकालिक वैदिक हिन्दू संस्कारों में याज्ञिक कर्मकाण्डों में अग्नि द्वारा देवताओं हेतु हविष्य पहुँचाने का श्रेय आथर्वणिक ऋषियों को दिया जा सकता है।[2]

अथर्वाङ्गिरस को अग्नि से सम्बद्ध करने का अभिप्राय यह है कि उनके द्वारा प्रदत्त प्रकाशस्वरूप ज्ञान आज मानव जीवन के व्यवहारिक पक्ष के अधिक निकट है।

अथर्वा के स्थान पर भृगु

वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा पुराणों में अथर्वाङ्गिरस शब्द के समान ही 'भृग्वङ्गिरा' पद का प्रयोग भी प्राप्त होता है। अङ्गिरा के साथ "अथर्वा" तथा "भृगु" दोनों का ही अविच्छिन्न सम्बन्ध है क्योंकि भृगु, अथर्वा तथा अङ्गिरा ये तीनों ही अथर्ववेद के प्रधान नेता माने गये हैं। गोपथ ब्राह्मण[3] तथा शतपथ ब्राह्मण[4] के कुछ प्रमाण भृगु तथा अङ्गिरा के सानिध्य को पुष्ट करते हैं। अथर्ववेद में भी इनका प्रतिपादन साथ ही हुआ है।[5] उपलब्ध साक्ष्य के अनुसार अग्नि की ज्वालाओं से भृगु एवं अङ्गारों से अङ्गिरा उत्पन्न हुए हैं।[6]

अथर्ववेद के गौरवमय ऋषि होने के कारण महर्षि भृगु की उत्पत्ति पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। उनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के मतानुसार आदित्य तथा अङ्गिरा के साथ भृगु की उत्पत्ति प्रजापति के वीर्य से हुई।[7] गोपथ ब्राह्मण में भी आख्यान उपलब्ध है।[8] जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में तथा तैत्तरीय उपनिषद् में वरुण के द्वारा भृगु के ज्ञानोपदेश का वर्णन मिलता है। वरुण पुत्र होने के कारण वारुणि शब्द भृगु के साथ सम्बद्ध हैं।

भृगु मात्र अथर्ववेद के ऋषि नहीं हैं, अपितु वे ऐसे ऋषि हैं जिन्हें अन्यान्य वेदों के अन्तर्गत सूक्तों के मन्त्रदृष्टा होने का गौरव प्राप्त है। ऋग्वेद में भृगु शब्द २१ बार प्रयुक्त हुआ है। अग्नि सूक्तों के साथ विशेष रूप से १२ बार नामोल्लेख है। भृगु ने मातरिश्वा के द्वारा अग्नि को निधि रूप में प्राप्त सफलता अर्जित की है।[9] ये स्वयं की शक्ति द्वारा अग्नि को आविर्भूत करने में समर्थ हैं।[10] भृगु प्राचीन जाति है, क्योंकि याज्ञिक जन अपने

---

१. देवास्तत्रापि ... कुरुष्व मे। (महाभारतः वनपर्व- २२२।८, ९)
भृग्वङ्गिरादिभि ... तपसाऽऽप्यायितः शिखी। (वही - २२२।१७)
दृष्ट्वा ... वहति सर्वेषा। (वही-२२२।१८, २९, २०)
२. एवमनिर्मगवता ... वहति सर्वेषा। (महा.-वनपर्व-२२२।२०)
३. एतद्वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। (गोपथ ब्रा.-३।४)
४. यत्र वै भृग्वो ... कृत्यारुपो जहै। (शतपथ ब्रा.-४।१।५।१)
५. भृगुं हिंसित्वा सृज्जया वैतध्व्याः पराभवन्। (अथर्व.-५।१९।१)
६. तत्र वाग्दीक्षणीयायाम ... ऋषिः। (वृहद्देवता-५।९८, ९९)
७. यद् द्वितीयमासीत्तद् ... वारुणिः। (ऐतरेय ब्रा.-३।३४।१)
८. गोपथ ब्रा.-१।२।८)
९. वह्निं यशसं ... भृगुवे मातरिश्वा। (ऋ.-१।६०।१)
१०. ये द्या वायमग्निं पृथिवीं ... यजत्रम्। (ऋ.-१०।५६।९)

सौम्य पितरों के रूप में अङ्गिरस और अथर्वन् के साथ भृगुओं का नाम भी लेते हैं।[1] अग्नि का आह्वान वैसे ही करते हैं जैसे कि भृगुओं, अङ्गिरसों और मनु ने पहले किया था।[2] भृगुओं का आह्वान तैंतीस देवताओं के साथ सोमपान के निमित्त हुआ है।[3] ऋग्वेद की अन्य गाथा में भी उनका सम्बन्ध है जहाँ उपासक लोग यह माँग करते हैं कि वे पापियों को उसी प्रकार अपसारित करें जैसे भृगुओं ने दान (मखम्) को अपसारित किया था।[4]

पुराणों में भृगु की दो पत्नियाँ बतायी गई हैं एक है "दिव्या", दूसरी "पौलोमी"। दिव्या के पुत्र शुक्राचार्य माने गये हैं जो अलौकिक शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। पौलोमी के पुत्र च्यवन थे, जिन्हें अश्विनीकुमारों की सहायता से नवयौवन की प्राप्ति हुई थी। सम्राट शर्याति की पुत्री सुकन्या से च्यवन का पाणिग्रहण हुआ। आगे जमदग्नि तथा परशुराम इस वंश के भूषण हुए। "च्यवन" के पुत्र का नाम "प्रमति" था, जिन्होंने "घृताची" अप्सरा से विवाह कर "रुरु" नामक पुत्र उत्पन्न किया। "रुरु" की पत्नी "प्रमदवरा" तथा पुत्र "शुनक" था। इन्हीं शुनक का पुत्र शौनक है जिन्होंने अथर्ववेद संहिता के संकलन में विशेष योगदान दिया। भृगु का वंश अत्यधिक विस्तृत है। उसका पूर्णरूपेण प्रस्तुतीकरण सम्भव नहीं है।

'भृगु', 'अथर्वा' तथा 'अङ्गिरस' का परस्पर सम्बन्ध

भृगु, अथर्वन तथा अङ्गिरस ये तीनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। यह बात इनकी उत्पत्ति-सम्बन्ध से पुष्ट हो जाती है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भृग्वाङ्गिरस शब्द आथर्वणिक ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि भृगु शब्द अथर्वन के स्थान पर है। तथापि भृगवः या भृगुवेद शब्द चूलिकोपनिषद् को छोड़कर, मन्त्रों के आथर्वण संग्रह को भृगुविस्तर (भार्गवग्रन्थाः) नाम से सम्बोधित करती है। आथर्वण याज्ञिक ग्रन्थों में भृग्वङ्गिरस शब्द का प्रयोग अथर्ववेद के लिए हुआ है। समय के साथ अन्य नामों की अवहेलना करके भृगु नाम की महत्ता को अतिरञ्जित करने की प्रवृत्ति उभरती है। गोपथ ब्राह्मण में भृगु की उत्पत्ति अथर्वन से पहले बतायी गई।[5] यही अथर्वन और अङ्गिरस को भृगु की दो आँखें बताया गया है।[6] सामान्यतः अथर्वन्, अङ्गिरस और भृगु ये तीनों शब्द परस्पर सम्बद्ध आख्यानात्मक नाम हैं। इनका सम्बद्ध अग्नि के उत्पादन और पूजन के साथ

---

१. तेषां वयं ... सौमसे स्याम्। (१०।१४।६)
२. ऋ.- ८।४३।१३
 य इन्द्र ... श्रुवीहवम्। (ऋ. ८।६।१८)
३. विश्वैर्देवैस्त्रिभिरेका ... सोमं पिबतमश्विना। (ऋ.-८।३८।३)
४. प्रसुन्वानस्या ... मरवं न भृगवः। (ऋ.-६।१०१।१३)
५. तस्मादर्भृगुः ... य एवं वेद। (गोपथ ब्रा.-१।१।३)
६. अथर्वाणश्च ह वा ... भृग्वङ्गिरस इति। (गोपथ ब्रा.-१।२।२२)

है। कभी-कभी मन्त्रों में इनका सम्मिलित उपयोग दिखता है।[१] यजुर्वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका पारस्परिक सम्बन्ध था और उत्तरोत्तर यह दृढ़ होता गया। शतपथ ब्राह्मण के सन्दर्भ में ये दोनों शब्द पर्यायवाची बन गये।[२] मत्स्य पुराण में भृगु के पुत्र अथर्वा तथा अथर्वा-पुत्र अङ्गिरस बताए गए हैं।[३]

जिस प्रकार अथर्वाङ्गिरस परम्परा को क्रमशः संवर्धित करने में महर्षि भृगु का योगदान प्राप्त है। उसी प्रकार अन्य ऋषियों का भी किञ्चित् सहयोग रहता है। इन ऋषियों में विरूप, नवग्न एवं दशग्वादि हैं। अतः इन ऋषि त्रय का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

विरूप का तीन बार बहुवचन में उल्लेख हुआ है। अङ्गिरा और विरूप स्वर्ग के पुत्र माने गये हैं।[४] विरूप गम्भीर वेपस विप्र हैं, अङ्गिरस के पुत्र हैं और असुर के वीर हैं। वे स्वर्ग और अग्नि से उत्पन्न हुए हैं।[५] विरूप का प्रयोग एक बार एक व्यक्ति विशेष के नाम के समान आया है जो ऋग्वेद के अष्टम् मण्डल के ७५वें सूक्त में अग्नि की गुण-गरिमा वर्णन करता हुआ छठवें मन्त्र में अभिद्यु व वृषन् अग्नि का स्तवन करता है।[६] अङ्गिरसों के साथ यम को निमन्त्रित करने के प्रसङ्ग में विरूप शब्द का पैतृक रूप वैरूप भी आया है।[७] बहुसंख्यक प्रयोगों में इसका अर्थ है विविध रूपों वाला। तब इसका विशेषण रूप में प्रयोग होता है। जब नाम के रूप में आता है तब अङ्गिरस पद के साथ प्रयोग होता है। फलतः सम्भव है कि मूलतः विरूप पद अङ्गिरस का विशेषण रहा हो।

'नवग्वों' का नाम ऋग्वेद में १४ बार आता है। उनमें से छः बार अङ्गिरसों के साथ इसका प्रयोग है। नवग्वों को अङ्गिरसों, अथर्वणों और भृगुओं के साथ पूर्व पिता कहा गया है।[८] इनका सम्बन्ध भी इन्द्र, सरमा, पणि, गायों के आख्यान प्रसङ्ग से जुड़ा है।[९] सायण भी लिखते हैं कि नव मास पर्यन्त गायों के लिए अनुष्ठान करने वाले, इस बहुवचनीय प्रयोग में नवग्व शब्द विशेषण बन कर आया है। एक स्थल पर यह अग्नि की रश्मियों का विशेषण

---

१. अङ्गिरसो नः पितरो ... सौमनसे स्याम्। (ऋ.-१०।१४।६)
२. यत्र वै भृगवो ... कृत्याऽरूपो जहे। (शतपथ ब्रा.-४।१।५।१)
३. भृगोः प्रजायताथर्वा ह्यङ्गिराऽथर्वणः स्मृतः। (मत्स्युपु.- ५१।१०)
४. इमे भोजा ... प्रतिरन्त आयुः। (ऋ.- ३।५३।७)
५. सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो ... मानवं सुमेधसः। (ऋ. १०।६२।४, ५, ६)
६. तस्मै नूनमभिद्यवे ... सुष्टुतिम्। (ऋ.-८।७५।६)
७. अङ्गिरोभिरा गहि ... निषथ। (ऋ.-१०।१४।५)
८. तमुः नः ... अभिवाजयन्तः। (ऋ.-६।२२।२)
   तेषां वयं ... सोमनसे स्याम्। (ऋ.-१०।१४।६)
९. इन्द्रस्याङ्गिरसां ... धासिम्। (ऋ.-१।६२।३)
   स सुष्टुभास ... मासो नवग्वाः। (ऋ.-१।६२।४, ५।४५।७)

है। सायणाभिमत में इसका अर्थ नूतन गमना है।[1] यहाँ अङ्गिरस एवं दध्यञ्च का विशेषण प्रतीत होता है।[2] इसका प्रतीयमान अर्थ जल में जाने वाला है। बहुवचन में सम्भवतः प्राचीन नव पुरोहितों के वृन्द का वाचक रहा हो।

'दशग्व' शब्द ऋग्वेद में सात बार प्रयुक्त हुआ है। तीन बार एकवचन में तथा दो बार नवग्व के बिना आया है। दशग्व लोग याज्ञिकों में प्रथम थे।[3] दशग्वों के साथ इन्द्र ने अंधकार से सूर्य को प्राप्त किया[4] अद्रि और बल का भेदन किया[5] और इसे अङ्गिरसों का प्रधान बताया गया है।[6] नवग्व एवं दशग्व में संख्या की दृष्टि से एक अङ्क का भेद है। फलतः प्रतीत होता है कि दशग्व का निर्माण नवग्व के आकार पर हुआ होगा।

१. वि ते विष्वग् ... धृपता रुजन्तः। (ऋ.-६।६।३)
२. येना नवग्वे ... देवेषु महते। (ऋ.-४।४९।४, १०।६२।६)
३. ते दशग्वाः प्रथमायज्ञमूहिरे। (ऋ. २।३४।१२)
४. सखा हा यत्र ... तमसि क्षियन्तम्। (ऋ.-३।३९।५)
५. स सुष्टुमा स स्तुमा ... दरयां दशग्वैः। (ऋ. -१।६२।४)
६. ये अग्नेः परि ... देवेषु महते। (ऋ.-१०।६२।६)

द्वितीय अध्याय

अथर्वाङ्गिरस का मूल्याङ्कन : विरोध एवं समर्थन की दृष्टि से

अब एक महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या अथर्वाङ्गिरस समग्र संस्कृत वाङ्मय में समाहित है? वास्तव में यह एक ऐसी सुरस्य धारा पर स्थित है जहाँ पर निष्पक्षता की दृष्टि से उसके पक्ष-विपक्ष में मत व्यक्त करना कष्टप्रद है। एक ओर इसके विरोध में कटाक्ष, दूसरी ओर सम्मानपूर्ण उच्च स्थान की स्वीकृति। इस परम्परा को सशक्त रूप से निरूपित करते हुए उसके मूल को उत्तरोत्तर अधिक सशक्त बनाया जा सकेगा।

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वैदिक वाङ्मय में चारों वेद हैं तथा उनमें प्राचीनतम ऋग्वेद है। अनेकों विद्वानों का यह मत है कि ऋग्वेद में अथर्व-परम्परा के सङ्केत दृष्टिगोचर नहीं होते। किन्तु इस विचारधारा के सम्बन्ध में यह सुदृढ़ एवं तर्कसङ्गत तथ्यात्मक विषय है कि प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय ऋग्वेद में भारतीय संस्कृति की उत्कृष्टतम परम्परा के विभिन्न उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस परम्परा के अथर्व, अङ्गिरा, भृगु, बृहस्पति, दध्यञ्च इत्यादि प्रमुख ऋषि हैं। ऋग्वेद में ये ऋषि मन्त्र साक्षात् कर्त्ताओं के रूप में अधिष्ठित हैं।[1] इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि अथर्वाङ्गिरस तथा उनसे सम्बन्धित ऋषियों के सङ्केत ऋग्वेद में विस्तृत रूप से प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद तथा उससे सम्बन्धित ब्राह्मण-ग्रन्थों में भेषज अर्थात् औषधियों के रूप में यह मान्यता विशेष रूप से स्वीकृत है।

ऋग्वेद से जिस धारा ने प्रवाहित होना प्रारम्भ किया अथर्ववेद में वही विशाल सजल सरिता के रूप में दिखाई देने लगी। अथर्वाङ्गिरस के सम्मिलित रूप से उल्लेख करने का साहस अथर्ववेद में ही किया गया है।[2] अथर्ववेद का दृष्टिकोण वही है जो

---

१. ऋ.- ६।१६।१३, ६।१५।१७, १।८३।५, ७।१०४।१, ४।१।७, १०।१२०।८
ऋ.-१०।६२।१, १०।६२।४, १०।१४।६
ऋ.- १०।५६।२, ६।१५।२, ६।१६।१४, १।११६।१२
ऋ.- १०।६७।३, १०।६७।२, २।२३।१

२. यस्मादृचो ... स्विदेव सः। (अथर्व.- १०।७।२०)
यज्ञं ब्रूमो ... मुञ्चन्त्वं हसः। (अथर्व.- ११।६।१४)
काले यमङ्गिरा ... पुण्याः। (अथर्व.- १६।५४।५)
आथर्वणानां चतुर्ऋचभ्यः स्वाहा। (अथर्व.- १६।२३।१)

कि याजुष संहिताओं का है। अथर्ववेद में इस परम्परा के ऋषियों के मन्त्रों का ही बाहुल्य है। अथर्ववेद के कुल मन्त्रों की संख्या ५,०७७ मानी गई है। इससे सम्बन्धित ऋषियों द्वारा प्रणीत मन्त्रों की संख्या इस प्रकार है–अथर्वा के १७८१, भृगु के २२३, अङ्गिरा के ६६, अथर्वाङ्गिरा के ५६, ब्रह्मा (अथर्वा का उपनाम) के ८१३ मन्त्र है, भृग्वङ्गिरा के २३१, सम्पूर्ण मन्त्र संख्या को आधार मानकर तुलना करने पर इस परम्परा के ऋषियों की मन्त्र-संख्या ३२०० के लगभग है। शेष मन्त्रों में से भी अधिकांश इस परम्परा के अनुयायी तथा समर्थक हैं।

हम यह सुदृढ़ शब्दों में कह सकते हैं कि आथर्वणिक ऋषियों की सामाजिक स्तर सम्बन्धी एवं शास्त्रीय ज्ञान सम्बन्धी मान्यताएँ गर्हित भेषजानि का उचित मूल्याङ्कन करने में असफल नहीं रहीं। तन्त्र एवं अभिचारों के बिना वेद, वेद ही नहीं बन पाता और श्रौत पाठ भी तन्त्र एवं अभिचारों के बिना पङ्गुवत रह जाता है, जबकि इन्हीं कारणों से आथर्वणों का विरोध किया जाता है।

अथर्वन, अङ्गिरस, भृगु तथा उनकी सन्तानों के नाम श्रुति कभी-कभी अथर्वक्षेत्र से जोड़ती है। यथा - जब काठक संहिता[1] एक भिषज् आथर्वण ऋषि का उल्लेख करती है और कौषीतकी ब्राह्मण[2] घोर अङ्गिरस ऋषि का सङ्केत करता है या पञ्चविंश ब्राह्मण[3] कहता है कि दध्यञ्च आङ्गिरस देवों का पुरोहित था, जिस रूप में अथर्ववेद के सूक्तों का श्रुति में उल्लेख है उससे यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। जब कभी श्रौत ग्रन्थ दूसरी साहित्यिक विद्याओं जैसे इतिहास, पुराण, गाथा, सूत्र, उपनिषद् आदि का वर्णन करते हैं, तब सदैव अथर्वन को अपनी सूची में सम्मिलित कर लेते हैं। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या अथर्वाङ्गिरस की ही देन है। इस ब्रह्मविद्या के दार्शनिक स्वरूप को इसके महत्त्व के प्रसङ्ग में उद्धृत किया जावेगा। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी इसका सन्दर्भ दृष्टव्य है।[4] परवर्ती काल में निर्मित प्रणव उपनिषद् अथर्ववेद की श्रेष्ठता को स्वीकार करता है, परन्तु यह स्वयं गोपथ ब्राह्मण का एक भाग है। इस प्रकार चारों वेद नृसिंह पूर्वतापनी,[5]

१. विप्रस्य ... चातनः। (काठकसं.- १६।१३)
२. आदित्याङ्गिरसीरूप ... प्रत्याचचक्षिरे। (कौ. ब्रा.-३०।६)
३. दध्यङ्वा ... पुरोधान्नधस्यावरुद्धयै। (पञ्च. ब्रा.- १२।८।६)
४. अरेऽस्य महतो ... उपनिषद्। (वृहदा. उप.-२।४।१०, ४।१।४२)
छान्दोग्योपनिषद् - ३।२।१, ७।१।२, ७।१।४, ७।२।१, ७।७।१
महतो भूतस्य ... इतिहासः पुराणं। (मित्रा. उप.- ६।३२-३३)
५. ऋग्यजुः ... गायत्री। (नृसिंह. उ.-१।२, १।४, २।१)

अथर्वशिरस[१], मुक्तिक[२], महाभारत[३] तथा मुण्डक[४] में उपलब्ध है। इन उपनिषदों में अनेक उपनिषद् ऐसे हैं, जो मात्र आथर्वणिक उपनिषद् कहलाते हैं। अतएव उपनिषदों में अथर्वाङ्गिरस का आरक्षित स्थान है।

गृह्यसूत्र अनेक दृष्टियों से स्वयमेव आथर्वणिक हैं। इनके बहुत से मन्त्र अथर्ववेद में उपलब्ध मन्त्रों के समान हैं या उनके पाठभेद मात्र हैं। कालान्तर में ये कर्म शाखाओं में विभक्त होकर अथर्ववेद से पृथक् होकर ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद के साथ मिल गये। कई स्थान पर अथर्ववेद का उल्लेख कर दिया गया है। यथा–आश्व. गृह्यसूत्र[५], शांखायन गृह्यसूत्र[६], हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र,[७] पारस्कर गृह्यसूत्र।[८] जैसे-जैसे विकास होता गया, वैसे-वैसे चतुर्थ वेद के उल्लेख में भी अधिकता आती है।

धर्म सूत्रों, शास्त्रों तथा स्मृतियों में विशेषतः उनके व्यवहाराध्याओं में आथर्वण कृत्यों के अभद्र पक्ष पर निर्णय दिये जाने अपेक्षित हैं। प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध होने के कारण अथर्ववेद का धर्मग्रन्थों में विशिष्ट स्थान है क्योंकि औषधि एवं ज्योतिष जैसे महत्त्वपूर्ण विज्ञान आथर्वणिक हैं। साथ ही आथर्वणिक पुरोहितों की अपने राजाओं के शत्रुओं की क्षति व पराजय हेतु अकथनीय सहयोग विख्यात ही है। धर्मशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में अथर्वाङ्गिरस का उल्लेख किसी न किसी रूप से अवश्य हुआ है।[९] इसी क्रम में शत्रुओं के क्षय हेतु जो

---

१. ऋगहं यजुरहं सामाथर्वाङ्गिरसो अहं। (अथर्वशिरस् उप. १।१)
२. ऋग्वेदादि ... इरिताः। (मुक्ति. उप.-१।११-१४)
३. सो ध्यायत ... छन्द ऋग्वेदः। (महाभारत-३)
४. मुण्डकोपनिषद् - १।१।५
५. ऋचो यजूंषि ... पुराणनीति। (आश्व. गृ. सू.-३।२।६)
६. भूरुग्वेदं त्वयि ... स्वाहेति वा। (शाङ्खा. गृ. सू.-१।२४।८)
७. वेदेभ्यश्च ... पुराणायेति। (हिरण्यकेशी गृ. सू.-२।१६।६)
८. दिग्भ्यश्चन्दमस इत्थर्ववेदं। (पारस्कर गृ. शू.-२।१०।७)
९. यदार्थर्वणं तेन मासेन। (विष्णुस्मृति-३०।३७)
ओम् ऋग्वेदं ... तर्पयामि। (बौधायन धर्मसूत्र-२।५।६।१५)
भेद सा ... शक्तितो द्विजः। (याज्ञ. स्मृति-१।४४)
सामान्यपि पठन् ... अथर्वाङ्गिरसः पठन्। (कर्मप्रदी-२।५।१०)
उपनिषदो वेदादयो ... चेति पावनानि। (वसिष्ठ ध. सू. २२।६)
यानि च ... तान्याद्रियेत्। (गौतम ध. सू.-११।१५)
विष्णुस्मृति - ५५।६

कर्म-निमित्त किया गया है, वह बौ. ध. सू.[1] तथा विष्णु स्मृति[2] में यातुधान से राक्षसों को तिलों द्वारा हटाया जाता है इस प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। यह तत्त्व अथर्ववेद में प्राप्त है।[3] अत्रि संहिता, ज्योतिष में निष्णात अथर्वन पुरोहितों का श्राद्धों व यज्ञों के लिए विधान करती है। इस विषय में विष्णुस्मृति[4], मनुस्मृति[5] व याज्ञ. स्मृति[6] भी दृष्टव्य हैं।

अथर्व तथा अङ्गिरस का एकीकृत उल्लेख पुराणों में मिलता है। भागवत, लिङ्ग तथा मत्स्यपुराणानुसार भृगुपुत्र अथर्वा एवं अथर्वा के पुत्र अङ्गिरा। रामायण प्रणेता वाल्मीकि भी भृग्वंशी थे। उनका भार्गव रूप में उल्लेख महाभारत में प्राप्त है।[7] विष्णुपुराण[8] में भी नामोल्लेख है। अथर्ववेद में व्रात्यो के अनुगमनकारी शास्त्रों के मध्य सम्बन्ध इस प्रकार स्पष्ट किया गया है–इतिहास, पुराण पुष्प है, इन अथर्वाङ्गिरसों ने इतिहास, पुराणों को अभितप्त किया। अभितप्त हुए इनसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य तथा रस उत्पन्न हुए।[9]

वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में उद्धृत किया है,[10] जो दोनों के सम्बन्ध को निश्चित करने में प्रमाणभूत माना जाता है। सायणाचार्य ने इतिहास, पुराण को अथर्ववेद का उपवेद बताया है।[11] अथर्ववेद के वर्ण्यविषय दो प्रकार के हैं– आयुष्मिक तथा ऐहिक। आयुष्मिक कर्म दर्शपूर्णमासादि त्रयी प्रतिपाद्य हैं किन्तु ऐहिक फल वाले शान्तिक, पौष्टिक कर्म, राजकर्म, अपरिमिति फल वाले तुंला पुरुष महादानादि अथर्ववेद में ही प्रतिपाद्य हैं। इतिहास रूप महाभारत की रचना का अभिप्राय श्रीमद्भागवत में स्वयं विशद् रूप से प्राप्त है।[12] महाभारत का विपुल संग्रह क्षत्रियों के हितों से इतना अधिक घुल-मिल गया है कि यहाँ अथर्ववेद के

---

१. यातुधानाः ... क्रोधवशे सुराः। (बौधा. ध. सू.-२।८।१५।४)
२. अपयन्त्वसुरा ... कृत्वा। (विष्णुस्मृति- ७३।११)
३. अग्ने तैलस्य ... लापय। (अथर्व.-१।७।२)
४. राजा च सर्व ... द्वैयहीने। (विष्णुस्मृति - ७१।६६)
५. तत्रात्मभूतैः ... विषापहैः। (मनु.-७।२१७)
६. पैषयेच्च ... काञ्चनं महीम्। (याज्ञवल्क्य.-१।३३२-३३३)
७. श्लोकश्चायं ... प्रति भारत। (महाभारत-शान्ति.-५७।४०)
८. ऋक्षो भूद ... वाल्मीकियोभिधीयते। (विष्णु.-३।३।१८)
९. अथर्वाङ्गिरस ... रसो जायत। (छान्दोग्योपनिषद् - ३।४।१।२)
१०. ते वा खल्वेते ... प्रामाण्यमभ्यवदत्। (वात्स्या. न्यायभाष्य - ४।१।६१)
११. सायण- अथर्ववेद भूमिका - पृ. १२२-१२३
१२. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां ... चाकरोत् सती। (श्रीमद्भागवत - ६।६।१६)

विरुद्ध कटाक्ष नहीं होता क्योंकि अथर्ववेद स्वयं "राजकर्माणि" से ही सम्बद्ध है। महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मा ने प्रथमतः चारों वेदों का उच्चारण किया।[1] यहीं पर ब्रह्मा का विशेषण चतुर्वेद को बना दिया गया है।[2] तथा यही अन्य वैदिक ऋषियों के साथ उल्लेख किया गया है।[3] अङ्गिरस अथर्ववेद के मन्त्रों द्वारा इन्द्र की स्तुति करते हैं। इन्द्र प्रसन्न होकर कहते हैं कि आगे इस वेद का नाम अथर्वाङ्गिरस रूप में प्रसिद्ध होगा।[4] कुन्ती को अथर्वन मन्त्रों को जानने वाली बताया गया है।[5] महाभारत के वनपर्व में निहित तत्त्वों का समावेश पूर्व में हो चुका है।

परवर्ती साहित्य और अथर्वाङ्गिरस-परम्परा

महाभारत में अथर्वाङ्गिरस का उल्लेख प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। अन्य साहित्य में जीवन के विभिन्न पक्षों की क्रियाओं के साथ अथर्व अङ्गिरस की क्रियाओं को मानने का विधान दृष्टव्य है। वाल्मीकि रामायण के एक स्थल पर इस परम्परा का नामोल्लेख है।[6] दशकुमारचरित[7] में दो बार तथा किरातार्जुनीयम्[8] में मिलने वाली लोकोक्तियाँ इसका सम्मानपूर्वक नाम लेती हैं। सुश्रुत का आयुर्वेद स्वभावतः औषधि के प्राचीनतम स्रोत से परिचित है। पुराण अथर्ववेद को उसके उदात्त रूप में उपस्थित करते हैं। विष्णु पुराण[9] इसका साक्षी है। मत्स्य तथा मार्कण्डेयपुराण अथर्ववेद की उपयोगिता दर्शाते हैं। पाणिनि[10] में आथर्वणिक शब्द आया है। गणपाठ में भी इसका उल्लेख मिलता है।[11] सामवेद के अनुपद और निदानसूत्र में[12] अन्य वैदिक शाखाओं के आचार्यों के साथ आथर्वणिकों का उल्लेख मिलता है। महानारायणोपनिषद्[13] की टीका तथा वृहद्देवता[14] में भी इसका उल्लेख है।

---

१. अत्र वेदान ... ब्रह्मवादिषु। (महाभारत - ५।१०८।१०)
२. साक्षात्लोक गुरुब्रह्मा ... च चतुर्मुखः। (वही-३।२०३।१५)
३. अथर्वाङ्गिरसश्चैव ... जलं मही। (वही - २।११।२०)
४. ततः स भगवांस्तत्र .. समपूजयत (वही-५।१८।५)
५. ततस्तामनवधा ... शिरसि श्रुतम्। (वही-३।३०५।२०)
६. वेदाः साङ्गाः ... आथर्वणाश्च ये। (वाल्मी. रामा.- २।२८।२५)
७. दशकुमारचरित - उच्छ्वास २, पृ. ६४, उच्छ्वास ३, पृ. १०८
८. किरातार्जुनीयम् - १०।१०
९. पौरोहित्यं ... ब्रह्मत्वं च। (विष्णुपुराण-प्रस्थान भेद, पृ. १६।१।१०)
१०. आथर्वणिकस्यैक लोपश्च। (पाणिनि-४।३।१३३)
दाण्डिनायनहास्ति ... हिरण्मयलि (पाणिनी - ६।४।१७४)
११. वसन्त, ग्रीष्म ... इति वसन्तादिः। (गणपाठ-४।२।६३)
१२. कनीयनितीव ... अधीयते धामि। (निदानसू. - २।१२)
१३. ह. स्टू. - २।१०० टिप्पणी
१४. अथर्वाङ्गिरसः मन्त्राः। (वृहद्देवता - ५।१६)

अथर्वाङ्गिरस अपने याज्ञिक-साहित्य की दृष्टि में

अथर्ववेद के याज्ञिक ग्रन्थ भी अपने भेद का प्राथमिकता के साथ समयानुसार निर्देश करते हैं और अवसर के अनुसार इसके आचार्यों एवं पुरोहितों को भी सर्वोपरि स्थान देते हैं। यथा–कौशिक[1], वैतान[2] आदि। इन ग्रन्थों को तीन श्रेणी में रखकर वर्णित किया जा सकता है। प्रथम, ये अनाथर्वणिक ग्रन्थों की ढुलमुल प्रकृति से सन्तुष्ट नहीं हैं। दूसरे, ये चतुर्थ ऋत्विज ब्रह्मा का पद अथर्वाङ्गिरस सिद्धान्तों के ज्ञाता को देना चाहते हैं। तीसरे, इसी प्रकार की माँग पुरोहित के पद के विषय में भी की गई है। इसे इन ग्रन्थों में पुरोहित, गुरू अथवा ब्रह्मा नामों से पुकारा गया है।

याज्ञिक ग्रन्थों में अथर्वाङ्गिरस का महत्त्व, विस्तार तथा ब्रह्मा का पद

गोपथ ब्राह्मण[3] स्पष्ट रूप से कहता है कि सृष्टि एवं वेदों का मूल-स्रष्टा एकमात्र ब्रह्म है। यहाँ अथर्वन तथा अङ्गिरस ग्रन्थों को सर्वोपरि दिखाया गया है। यह अथर्ववेद को सर्वश्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ बताता है।[४] इसका निर्णय है कि त्रयी वेद के ज्ञाता सर्वोच्च स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, किन्तु अथर्वन एवं अङ्गिरस उनसे उच्च ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।[५] वैतानसूत्र[६] इसे चारों वेदों के ऊपर अधिष्ठित करता है। परिशिष्टों में अथर्ववेद को इससे भी उच्च स्थान दिया गया है। गोपथ ब्राह्मण[७] में ब्रह्मा का इन शब्दों में वर्णन है–"एष ह वै विद्वान् सर्वविद् ब्रह्मा यद् भृग्वङ्गिरोविद्।" अथर्ववेद का तादात्म्य सर्वविद्या के साथ बताया गया है। भृग्वङ्गिरस में निष्ठ ब्रह्मा के बिना यज्ञ निरर्थक हो जाता है।[८] कौशिक[९] में पुरोहित, गुरू एवं ब्रह्मा की तुलना अथर्वपरिशिष्ट से पुष्ट होती है।[१०] बहवृच् राज्य का नाश करता है, अध्वर्यु सन्तान नष्ट करता है और छान्दोग्य धन का अपव्यय कराता है, अतः गुरू निश्चित रूप से आथर्वण ही होना चाहिए।

वैदिक धर्म में तीन प्रकार के साहित्यिक विभाग और इन विभागों के यज्ञ में प्रयोग की तीन याज्ञिक विधियाँ हिन्दू धर्म और आचार के लिखित इतिहास से पूर्व विकसित हो

---

१. श्रुतं त्वा हव्यमिति ... उपसादयन्ति। (कौशिक सू.-६३।३)
२. वाचयति यजमानं ... संस्कृतम्। (वैतान सू.-१।५)
३. तस्य ह वा एतस्य ... आत्मा सम्भवत्। (गो. ब्रा.-१।१।४-१०)
४. एतद् भूयिष्ठं ब्रह्मयद् भृग्वङ्गिरसः।
५. त्रिष्टिपं त्रिदिवं ... च सा गतिः। (गो. ब्रा. -१।५।२५)
६. ऋग्भिः पूतं ... प्रथमं निनाय। (वैतान सू.-६।१)
७. यथा गौर्वाश्वो ... प्रति तिष्ठति। (गो. ब्रा. - १।३।२)
८. गोपथ ब्राह्मण - १।३।१।२
९. एष ह वै ... यद् भृग्वङ्गिरसः। (कौ. सू.-९४।२-४)
१०. कुलीनं श्रोत्रियं ... कुर्यात् पुरोहितम्। (अथर्व परि.- ३।१, ३।३)

चुकी थीं। ये विधाएँ हैं ऋचः सामानि एवं यजूंषि और इनके याज्ञिक पुरोहित हैं–होता, उद्‌गाता और अध्वर्यु। ब्राह्मण-ग्रन्थ समस्त वैदिक ज्ञान के लिए सर्वविद्या शब्द का प्रयोग करते हैं किन्तु धार्मिक साहित्य एवं कृत्यज्ञान को व्यक्त करने के लिए सर्वाधिक सफल शब्द "ब्रह्म" था। उपनिषदों का ब्रह्म वेदों के ब्रह्म से कुछ भिन्न है। इसे सम्पूर्ण ज्ञानों से श्रेष्ठ बताया गया है। यह मूर्तिमान् रूप में उन प्रमुख विचारों में एक बन जाता है, जो अन्त में सर्वव्यापी ब्रह्मात्मन् में परिवर्तित हो जाते हैं। वहाँ तो इस ब्रह्म का ज्ञान ही "ब्रह्मविद्या" है।

त्रयी के साथ ब्रह्मवेद का जो स्थान है। होता, उद्‌गाता और अर्ध्वयु के साथ ब्रह्मा का भी वही स्थान है। ऋग्वेद[1] चारों ऋत्विजों के उत्तरदायित्व का चित्रण करता है। अथर्ववेद में ही ब्रह्म शब्द के अभिचार और प्रार्थना इन दोनों अर्थों में बहुशः प्रयुक्त होने के बल पर ही अथर्ववेदियों ने ऐसी व्यवस्था करने का साहस किया होगा, यद्यपि इनका ऐसा करने का स्पष्ट रूप से ज्ञान नहीं होता है।[2] परवर्ती ग्रन्थों[3] में विधान है कि अथर्ववेदी ही पुरोहित होना चाहिए।

दशकुमारचरित में विवाह संस्कार तथा अभिचारिक क्रियाएँ दोनों राजभवन में साथ-साथ आथर्वण रीति से मनाई गई हैं। "आथर्वणेन विधिना" यह वर्णन प्रासङ्गिक होने से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

अथर्ववेद संहिता में ऐसे मन्त्र हैं जिनका श्रौत क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य किसी अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। विधानों की एक सूची की तीन दैनिक सवनों के अतिरिक्त और स्थान पर सङ्गति नहीं होती।[4] वैतानसूत्र[5] स्पष्ट रूप से उन्हें अग्निष्टोम का अङ्ग बताता है, फिर अथर्ववेद[6] यज्ञ की त्रुटियों हेतु प्रायश्चित्त सूक्त है। यह निर्विवाद रूप से ब्रह्मा का अपना क्षेत्र है। इन त्रुटियों को मन्त्रों द्वारा शोधने का विधान

---

१. ऋचां त्वः ... मिमीत उत्वः। (ऋ. - १०।७१।११)
२. अयं देवानां सुरो ... नयामि। (अ.-१।१०।१)
 असितस्य ते ... ते भगम्। (अ. -१।१४।४)
 अस्थिजस्य ... लक्ष्मश्वेतमनीनशम्। (अ.-१।२३।४)
३. यानि च ... तान्यादियेत्। (गौ. ध. सू. - ११।१५)
 तैः सार्ध ... मुदितोदितम्। (याज्ञ.- १।३१२, ११३)
 तानिकारुकर्माणि शिल्पानि विविधानि वै। (मनुस्मृति-११।३३)
४. अग्निः प्रातः ... सह भक्षाः स्याक। (अ. ६।४७।१)
५. वैतान सू.- २१.७
६. यद्देवा देवहेऽनं ... मुञ्चत। (अ.- ६।११४।१)
७. यज्ञे कुशला ... इति ब्राह्मणम्। (गो. ब्रा. - १।१।१३)
 ब्रह्मवेदस्याथर्वणं ... भवेर्युगमा इव। (गो. ब्रा.-१।१।२२)

मिलता है।[7] वैतानसूत्र की कतिपय हस्तप्रतियों में छः प्रायश्चित्त अध्याय समाविष्ट हैं।

अथर्वाङ्गिरस-परम्परा का प्रमुख आधार अथर्ववेद है। यह नौ भागों में विभक्त है–पैप्पलाद, शौनकीय, दामोद्, तात्तायन, जाजल, ब्रह्मपालास, कुनखा, देवदर्शी, चरणविद्या। अन्य मतानुसार शाखाओं के नाम इस प्रकार हैं–पैप्पलाद्, आन्ध्र, प्रदात्त, स्नात, श्नौत, ब्रह्मदावन, शौनक, देवदर्शती और चारणविद्या। इनके अतिरिक्त तैत्तिरीयक नाम के दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं। यथा–औख्य व काण्डिकेय। काण्डिकेय पाँच भागों में विभक्त हैं–आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यावाची, हिरण्यकेशी और औधेय।

अथर्ववेद की संहिता में बीस काण्ड हैं। इन बीस काण्डों के अड़तीस प्रपाठकों में सात सौ साठ सूक्त हैं और छह हजार मन्त्र हैं। किसी शाखा के ग्रन्थ में अनुवाक विभाग भी पाये जाते हैं। अनुवाकों की संख्या ८ है। शतपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद के पर्वविभाग का वर्णन है। अथर्ववेद के वर्तमान संकलन में पर्वविभाग दृष्टिगत नहीं है।

गोपथ ब्राह्मण

यह अथर्ववेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। इसमें पूर्व व उत्तर दो खण्ड हैं। पूर्ण ग्रन्थ ग्यारह प्रपाठकों में विभक्त हैं। पूर्वार्द्ध में छह व उत्तरार्द्ध में पाँच प्रपाठक हैं। पूर्वार्द्ध आख्यानपरक तथा अन्यान्य विषयों के विचारों पर आधारित है। उत्तरार्द्ध में कर्मकाण्ड पर आलोचना है।

गोपथ ब्राह्मण के आधार पर पाँच सूत्र ग्रन्थ बने हैं। कौशिकसूत्र, वैतानसूत्र, नक्षत्र कल्पसूत्र, आङ्गिरस कल्पसूत्र और शान्ति कल्पसूत्र। कौशिक सूत्रों को संहिता विधि सूत्र भी कहते हैं। वैतान सूत्र में अयनान्त निष्पाप त्रयी विहित दर्शपूर्णमासादि कर्म के ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और होता इन चार ऋत्विजों के कर्त्तव्य बताये गये हैं। कौशिक सूत्र में– १. स्थाली पाक विधान में दर्शपूर्णमास विधि, २. मेधा जनन, ३. ब्रह्मचारी सम्पद, ४. ग्राम, दुर्ग, राष्ट्रादि लाभ विषय, ५. पुत्र, पशु, धन, धान्य, स्त्री, प्रजा, करि, तुरङ्ग, रथ, दोलकादि सर्व सम्पत्साधक समूह, ६. मानवगण में ऐकमत्य सम्पादक सोमनस्यादि।

अथर्ववेद से सम्बद्ध याज्ञिक साहित्य पञ्चकल्प निर्मित है। इन ग्रन्थों के किञ्चित् परिवर्तनयुक्त नाम हैं– १. कौशिक सूत्र संहिता विधि या संहिता कल्प, २. वैतानसूत्र अथवा वैतानकल्प, ३. नक्षत्रकल्प, ४. शान्तिकल्प तथा ५. आङ्गिरस, अभिचार या विधानकल्प। अन्तिम तीनों परिशिष्ट हैं। हेटफील्ड के अनुसार परिशिष्टों की संख्या बहत्तर है। इनमें से बहुत से विभिन्न विषयों का वर्णन देते हैं। इन ग्रन्थों में बहुत से व्याकरण, इतिहास और नक्षत्र विद्या पर आधारित हैं। "पैप्पलादाः मन्त्राः" का प्रकाशन ब्लूमफील्ड ने किया।[1] स्कन्दयाग

---

1. अब डी. भट्टाचार्य कर रहे हैं।

या धूर्तकल्प का सम्पादन एवं अनुवाद गुडविन द्वारा हुआ। मैगोन ने टीका के आधार पर आसुरी कल्प का सम्पादन व अनुवाद किया। कैलेण्ड ने श्राद्ध कल्प का, बेवर ने उत्तम पटल के अंशों का ब्लूमफील्ड ने कौत्सव्य निरुक्त निघण्टु की टीका व यास्क निघण्टु से तुलना का, वेबर ने चरणव्यूह की विवेचना एवं गृह्यसूत्र का सम्पादन किया है। अद्भुत शान्ति के बहत्तर भाग का प्रकाशन व अनुवाद वेबर ने तथा "औशनसाद्भुतानि" का सम्पादन तथा अनुवाद हेटफील्ड ने किया।

"प्रकाश" नामक ग्रन्थ में मुण्डक, प्रश्न और नृसिंहोत्तर तापनीय इन तीन उपनिषदों को ही अथर्ववेदीय आदि उपनिषद् माना गया है। शङ्कराचार्य ने मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंहतापिनी इन चारों को प्रधान आथर्वण उपनिषद् माना है। बादरायण ने अपने वेदान्त सूत्र में इन्हीं चार उपनिषदों के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। प्रश्नोपनिषद् और माण्डूक्योपनिषद् गद्य में है। नृसिंहतापिनी पूर्वोत्तर रूप दो भागों में बँटी है। इन चारों के अतिरिक्त मुक्तिकोपनिषद् में और ६३ आथर्वण उपनिषदों के नाम मिलते हैं।

पैठीनसिस्मृति

अनेक विद्वानों ने इसे धर्म के मान्य लेखक के रूप में वर्णित किया है।[१] कैलेण्ड का निष्कर्ष है कि पैठीनसि हर दृष्टि से एक आथर्वण लेखक थे क्योंकि इनका लिखा श्राद्धकल्प, जिसका संकलन हेमाद्रि के उद्धरणों के आधार पर किया गया है। आथर्वण श्राद्ध ग्रन्थों से सम्बद्ध है।

आङ्गिरस स्मृति

याज्ञवल्क्य ने अङ्गिरा को धर्मशास्त्रकार माना हैं अपरार्क, मेधातिथि, हरदत्त व अन्य लेखकों और भाष्यकारों ने धर्म सम्बन्धी प्रसङ्गों में अङ्गिरा की अधिकता से चर्चा की है। विश्वरूप ने सुमन्तु में उद्धृत अङ्गिरा के वचन का उल्लेख किया है। जीवानन्द के संग्रह में विद्यमान अङ्गिरसस्मृति ७२ श्लोकों में है।

व्याकरण एवं इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ

इन रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अथर्ववेद प्रातिशाख्य है। हिटनी द्वारा सम्पादित संस्करण में शौनकीया चतुराध्यायिका के नाम से उल्लिखित किया गया है। व्युहलर ने दूसरे अथर्ववेद प्रातिशाख्य का उद्भेदन किया है। इसका सम्पादन सूर्यकान्त ने १९४३ ई. में किया

---

१. ब्लूमफील्ड द्वारा उठाए गये प्रश्न कि क्या धर्म के मान्य लेखक पैठीनसि का अथर्ववेद के साथ सम्बन्ध है? पिशेल पैठीनसि को गद्य-पद्य निर्मित धर्मग्रन्थ का रचयिता और कैलेण्ड व जॉली धर्मसूत्र का रचयिता मानते हैं।
२. कौत्सव्य निरुक्त निघण्टु : अथर्व परिशिष्ट ४८

हैं। पाणिनीय "आथर्वण सूत्र" नामक व्याकरण ग्रन्थ त्रिकाण्डमण्डन का ज्ञान प्रतीत होता है। कौत्सव्य[2] का निरुक्त निघण्टु टिप्पण शब्दों का संकलन है किन्तु वास्तविक रूप से निरुक्त ग्रन्थ नहीं है। अथर्व परिशिष्ट के वर्णपटल भी दर्शनीय हैं।[1] अनुक्रमणी के समान ही दूसरी पुस्तक "पञ्चपटलिका" है जो अधिकांश छन्दोबद्ध है। चरणव्यूह चार सम्बद्ध ग्रन्थों को "लक्षण ग्रन्थाः" कहता है। ये नाम हैं–"चतुरध्यायिका, प्रातिशाख्यम्, पञ्चपटलिका, दन्त्योष्ठ्यविधि, वृहत्सर्वानुक्रमणी च।"

इस प्रकार यह अध्याय पूर्वापर साहित्य के अन्तर्गत अथर्वाङ्गिरस के सम्बन्ध में किए गए मूल्याङ्कन पर दृष्टिपात करता है। साथ ही उन संकलनों का विस्तृत उल्लेख है जो अथर्व साहित्य के नाम से जाना जाता है। इस सम्पूर्ण परम्परा के स्रोत इसके साहित्य में ही निहित हैं। आथर्वणिक साहित्य में प्रतिपादित किये गये विविध पक्षीय सिद्धान्तों के आधार पर ही परवर्ती साहित्य का सृजन हुआ है।

१. वर्णपटलम् - अथर्व परिशिष्ट ४६

तृतीय अध्याय

राजनीतिक-सिद्धान्त

पूर्व अध्यायों में प्रसङ्गानुसार ऋषि इतिहास के सम्बन्ध में तथा अथर्वाङ्गिरस पद का महत्त्व एवं उसकी विशेषता के विषय में यथामति विचार किया गया।

अथर्वाङ्गिरस ने जीवन के सम्बन्ध में जिन मूल्यवान सिद्धान्तों को उपस्थित किया है, उनमें सर्वप्रथम वे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं जो कि राजनैतिक मान्यताओं से सम्बद्ध हैं। इसमें राजा की कार्य-पद्धति, शासन-प्रणाली, मन्त्री-परिषद् का स्वरूप आदि कैसा होना चाहिए, इन सभी पर गम्भीरतापूर्वक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

अथर्वाङ्गिरस के राजनीतिक सिद्धान्तों में राजनैतिक परिस्थितियों का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है। इन सिद्धान्तों के कारण ही इनके मुख्याधारभूत सङ्कलन अथर्ववेद को यत्र-तत्र क्षत्रवेद के रूप में भी अभिहित गया है।[१] इन सिद्धान्तों में राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य या साम्राज्य के लिए कई स्थानों पर किया गया है।[२] पृथिवी देवी को राष्ट्र के लिए तेज एवं पराक्रम को धारण करने वाली बताया गया है।[३]

क्षत्र

क्षत्र का अर्थ है प्रभुत्व, शासन तथा शक्ति। यह देवताओं और मनुष्यों दोनों के लिए प्रचलित बताया गया है। क्षत्र का प्रयोग शासक के अर्थ में भी प्राप्त है।[४] बड़े राज्य को महाक्षत्र कहा गया है।[५] क्षत्र शब्द जहाँ ब्रह्म के साथ में आता है,[६] वहाँ क्षत्र लौकिक शक्ति तथा ब्रह्म पारलौकिक शक्ति का द्योतक है।[७]

विश्

विश् का भिन्न-भिन्न अर्थ किया जाता है।[८] राजा के साथ में इसका अर्थ प्रजापति से होता है।[९] यह जन हेतु भी प्रयुक्त हुआ है।[१०]

---

१. शत. ब्रा.-१८।४।१४१, ब्लूमफील्ड, "सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट" भाग-४२, पृ. २५
२. मा त्वदराष्ट्रमधि मुशत्। (अथर्व.- ६।८७।१)
३. सा भूमि ... राष्ट्रे दधातुत्तमे। (अथर्व.- १२।१।८)
४. सा क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र। (अथर्व.- ४।२२।२, १६।३०।४)
५. परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन्। (१६।२४।२)
६. अतो ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां। (१५।१०।३, १६।२४।२)
७. घोषाल यू. एन. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वाटरली-१६४४, पृ. १०६
८. वैदिक इण्डैक्स-भाग-२, पृ. ३४२, हिन्दी
९. त्वां विशो वृणतां राज्याय। (३।४।२)
१०. स्योनास्यै ... पुष्टायेषां भव। (१८।२।२७)

विशपति

विश् का अर्थ जहाँ प्रजा है, वहाँ विशपति का अर्थ राजा है। विशों का स्वामी एकराट् (एक राष्ट्र) कहा गया है।[1]

संसद

अथर्ववेद में संसद का भी उल्लेख मिलता है।[2] सायण ने इसका अभिप्राय सभा लिया है।[3] व्हिटने इसका समीकरण जनसमूह से करते हैं[4] तथा ग्रिफिथ परिषद से।[5] अथर्ववेद के उल्लेख में संसद एक ऐसी संस्था प्रतीत होती है जिसमें सभा तथा समिति दोनों समाहित हैं।

ग्रामणी

ग्रामणी गाँव के मुखिया के रूप में स्थापित है। त्सिमरे[6] ने ग्रामणी को सैनिक कर्मचारी और व्हिटने[7] ने सेना की टुकड़ी का नायक स्वीकार किया है। सायण[8] ने इसे ग्राम-नेता कहा है। अतएव ग्रामणी नागरिक और सैनिक दोनों कार्यों का सम्पादन करने वाला ग्राम-प्रधान प्रतीत होता है।[9] ग्राम को राज्य शासन की एक इकाई माना गया है। अन्य स्थल पर ग्रामणी राजाओं, राजकर्त्ताओं तथा सूतों की श्रेणी में उल्लिखित है।[10]

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

सूक्तों एवं मन्त्रों का अनुशीलन करने पर राज्य की उत्पत्ति के कई प्रमुख सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। इनका वर्णन निम्नानुसार है–

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त

इस मत के समर्थक सामान्य रूप से शासन, सत्ता का दैवी उद्‌भव स्वीकार करते हैं। अथर्ववेद के कतिपय उद्धरण भी इस आशय को प्रकट करते हैं। इसमें सर्वप्रिय शासक

---

१. विशां पतिरेकराट्त्व विराजो। (३।४।१)
२. वही ७।१३।३
३. अस्याः सर्वस्याः ... भगिनं वृणु। (७।१३।३)
४. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. ३६६
५. ग्रिफिथ द हिम ऑफ द अथर्ववेद, भाग २, पृ. २३०
६. आल्टिण्डिशे लेवन १७१, उद्‌धृत वै. इ. भाग १, पृ. २७६
७. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. ६२
८. ग्रामण्यः ग्राम नेतारः। (३।५।७)
९. वैदिक इं. भाग १, पृ. २७६
१०. ये राजानो राजकृतः सूताग्रामण्यश्चये। (३।५।७)

परीक्षित के वर्णन प्रसङ्ग में उसे मनुष्यों में देव माना गया है।[१] कई स्थलों पर राजा को इन्द्र के मित्र की संज्ञा दी गई है।[२] इन्द्र स्वर्ग में दैवी प्रजा का शासक रहा और राजा पृथिवी पर सांसारिक विश् का।[३] राष्ट्र की उत्पत्ति आत्मज्ञानी ऋषियों की घोर तपस्या का परिणाम है। प्रथमतः ऋषिगण दीक्षा और तप से संयुक्त हुए, ततः राष्ट्रबल और ओजस् उत्पन्न हुआ।[४] राज्य की आधारभूत संस्थायें एवं सभा व समिति प्रजापति की पुत्रियाँ कही गई हैं।[५] शासक वर्ग को स्वयं विराट् पुरुष की भुजाओं से निःसृत कहा गया है।[६] इन समस्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि राज्य की उत्पत्ति दैवी-सिद्धान्त के अनुसार हुई है।

सामाजिक अनुबन्ध

अथर्ववेद के अन्तर्गत कई सूक्त राजा की निर्वाचन पद्धति से ही सम्बन्धित हैं।[७] यहाँ वर्णन है कि राजा की राज्य में स्थिति तभी तक रहती है, जब तक प्रजा का उसमें विश्वास रहे।[८] श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने इस प्रकार के राजतन्त्र को अनुबन्धित राजतन्त्र कहा है।[९]

विकासवादी ऐतिहासिक सिद्धान्त

अथर्वाङ्गिरस के सिद्धान्तों में सामाजिक संस्थाओं के क्रमिक विकास के सम्बन्ध में पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है।[१०] एक सूक्त में गाय रूप विराज शक्ति के गृहपति संस्था, ग्राम-संख्या, विश् की परिषद् और आमन्त्रण में क्रमशः पादक्षेप का वर्णन हुआ है।[११] इस प्रसङ्ग में परिवार, ग्राम, विश् और मंत्रिमण्डल के ऐतिहासिक विकास का आभास होता है। इस सम्बन्ध में डॉ. अनन्त सदाशिव अल्लेकर का मत भी उल्लेखनीय है। अतः कहा जा सकता है कि भारत में प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त कुटुम्ब से ही शासन संस्था का विकास

---

१. राज्ञो विश्वजनीनस्य ... परीक्षितः। (२०।१२७।७)
२. एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां। (४।२२।७)
३. त्वमिन्द्राधिराजः ... ते अस्तु। (६।९८।२)
४. भद्रमिच्छन्तः ... उपसं नमन्तु। (१९।४१।१)
५. सभा व मा ... संविदाने। (७।१२।१)
६. बाहूराजन्यो भवत्। (१९।६।६)
७. ३।४।६, ८७।६।८८
८. विशस्त्वा ... अशत्। (६।८७।१)
९. हिन्दू पॉलिटी, भाग १, पृ. १९१
१०. सूक्त ८, १०
११. विराट् वा ... य एवं वेद। (८।१०।१-७)

हुआ। कुटुम्ब के गृहपति का आदर और मान स्वाभाविक था। ग्राम के मुखिया व जनपति भी इसी परम्परागत सम्मान के पात्र हुए।[१]

राज्य के घटक

अथर्वाङ्गिरस द्वारा प्रतिपादित राज्य के सम्पूर्ण घटकों का यत्र-तत्र प्रसङ्ग दृष्टिगोचर होता है।

स्वामी : राजा को राज्य का स्वामी कहा गया है[२] राजा को विशोपति और एकराट् की उपाधि से विभूषित किया गया है।[३] यह पद प्रतिष्ठित व उत्तरदायित्व पूर्ण माना गया है।

आमात्यः राज्य के द्वितीय घटक को आमात्य वर्ग के नाम से जाना जाता है। अथर्ववेद में सभा और समिति के पश्चात् "आमन्त्रण" नामक संस्था का प्रसङ्ग है।[४]

सुहृत : राज्य का अन्य प्रमुख अङ्ग सुहृत या मित्र होता है। एक स्थान पर उल्लेख है कि ब्राह्मण शासक के मित्र उसके वश में नहीं रहते और समिति उसके प्रतिकूल होती है।[५]

कोष : विशपति के दो कर्मचारियों का एक स्थल पर उल्लेख है। इनमें से एक धन लाने वाला और दूसरा संग्रह करने वाला है। अन्यत्र देवों की नगरी का वर्णन है जिसमें स्वर्ण कोष का उल्लेख है।[६]

राष्ट्र : यह राज्य का पञ्चम घटक है। अथर्वाङ्गिरस ने इसका अनेकशः उल्लेख किया है। राष्ट्र की उन्नति में योगदान हेतु प्रत्येक दम्पत्ति से प्रार्थना की गई है।[७]

दुर्ग : दुर्ग के अर्थ में "पुर" शब्द का प्रयोग हुआ है। दुर्ग को लोहे के समान अभेद्य बनाने का प्रावधान है।[८]

बल : प्रत्येक राज्य में सेना विद्यमान थी। प्रजा का अनुगमन करने वाले राजा की सेना उसका अनुगमन करती हुई दिखाई पड़ती है।।[९]

राज्य के कर्त्तव्य और कार्य

इस परम्परा में न तो राजसत्ता के कठोर होने का, न ही मनमाने शासन का

---

१. अल्तेकर, ए. एस. - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. २६-३०; सेल्फ गवर्नमेण्ट इन एन्सिएण्ट इण्डिया, एन. वी. पैगी, पृ. ३८३
२. विशां पतिरेकराट् त्वं विराज। (३।४।१)
३. ८।१०।७
४. नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्। (५।१९।१५)
५. उपोहश्च ... भूमानमक्षितम्। (३।२४।७)
६. अष्टाचक्रा नवद्वारा ... ज्योतिषावृतः। (१०।२।३१)
७. अभिवर्धतां ... वर्धताम्। (६।७८।२)
८. पुरः कृणुध्वं आयसीः अधृष्टाः। (१९।५८।४)
९. स विशोनु व्यचलत ... सुराचानुव्यचलन्। (१५।९।१-२)

प्रावधान मिलता है। इसका कारण प्रजाजन द्वारा राजा का निर्वाचन है।[१] जिसमें सम्पूर्ण प्रजा का उसके अनुकूल रहना परमावश्यक है।[२] शासक का जीवन कठोर व्रतों के पालन में व्यतीत होता है और ऐसे ही शासक से राष्ट्र का कल्याण सम्भव है।[३] राजा को सत्य-पोषक माना गया है।[४] वह ब्राह्मण का वध नहीं कर सकता था।[५] राजा का सम्पूर्ण कार्य प्रजारञ्जन हेतु निर्दिष्ट है।[६] एक सूक्त में राजा परीक्षित के उत्कृष्ट शासन का वर्णन है। इसमें उसे कुल का शासक बताया गया है।[७]

राज्य के प्रकार

एकतन्त्र

अथर्वाङ्गिरस परम्परा के अन्तर्गत (एकतन्त्र शासन पद्धति) मोनार्की का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में राजन् शब्द का सामान्यतया उल्लेख बीस बार तथा बहुवचन की दृष्टि से प्रयोग लगभग दस बार हुआ है। राजा प्रजा का प्रिय होने पर विशपति[८] और प्रजापति[९] की उपाधि से विभूषित होता है। राजा के सहायतार्थ दो परिषदों का प्रावधान है–सभा व समिति।[१०] पुरोहित व ग्रामणी शासन तन्त्र के प्रबल सहायक कहे गये हैं।[११]

गणतन्त्र

गणतन्त्र शब्द की पृष्ठभूमि महागणतन्त्र शब्द से निरूपित हुई है।[१२] कात्यायन ने कुलों के समूह को गण कहा है।[१३] अथर्ववेद में भी गण शब्द मरुतों के साथ मिलता है।[१४]

---

१. त्वां विशोवृणतां राज्याय। (३।४।२)
२. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। (४।८।७)
३. ब्रह्मचर्येण ... राष्ट्रं विरक्षति। (११।५।१७)
४. सत्यधर्मा प्रजापतिः। (७।२५।१)
५. उग्रो राजा ... यत्र जीयते। (५।१६।६)
६. अभिवर्धताम् ... वर्धताम्। (६।७८।२)
७. परिच्छिन्नः ... पतिवर्दति जायया। (२०।१२७।८)
८. विशां पतिरेकराट त्वं विराज। (३।४।१)
९. सभा च मां ... संविदाने। (७।१२।१)
१०. वही. ७।१२।१
११. पृ. ३-४
१२. गणेभ्यः स्वाहा। महागणेभ्यः स्वाहा। (१९।२२।१६-१७)
१३. कुलानां ... संपरिकीर्तिः। (पृ. ४२६)
१४. तस्यैष मारुतो गणः। (१३।४।८)

इस काल में अभिजात कुलीय शासन प्रणाली ज्ञात होती है। तिसमर[1] महोदय ने "सजाताना"[2] के आधार पर अभिजाततन्त्रात्मक शासन प्रणाली की स्थिति सिद्ध की है। डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार ने इनके मत का समर्थन किया है और प्रमाणरूप एक मन्त्र उद्धृत किया है।[3] अधिकांश विद्वान अथर्व वैदिककाल में ही गणतन्त्र शासन की स्थिति स्वीकार करते हैं।[4]

शासक का निर्वाचन

इन सिद्धान्तों में प्रतिपादित राजनीति की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है शासक का निर्वाचन पद्धति से चयन करना।[5] इस विषय का वर्णन एक समस्त सूक्त में हुआ है।[6] प्रजापति का आविर्भाव प्रजा से ही हुआ है, ऐसा माना गया है।[7]

उपर्युक्त मन्त्रों के द्वारा प्रजाजनों के द्वारा सामूहिक रूप से राजा का निर्वाचन करना यह तथ्य के रूप में प्राप्त होता है।[8] एक सूक्त में राजा मन्त्रसिद्ध पर्णमणि से विनय करता है कि हे पर्णमणि! इन राजाओं, राजकर्त्ताओं, सूतों और ग्रामणियों को मेरे अनुकूल बनाओ।[9] यहाँ राजकृत पद का अर्थ राजाओं की नियुक्ति करने वाले से किया जाता है।[10] वैदिककाल में राज्य के इन पदाधिकारियों को "रात्निन" कहा गया है। शुक्ल यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता में राजन्, ग्रामणी, सूत, तक्षा और रथकार का उल्लेख रात्निन की तालिका में हुआ है।[11] राजा के निर्वाचन में समिति का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा होगा।[12] प्रजापति स्वरूप राजा सत्य एवं धर्म का आचरण करने वाला बताया गया है।[1] राजा के राज्याभिषेक से सम्बन्धित भव्य महोत्सव के कार्य को सूत्रकार कौशिक ने

---

१. आल्टिडिशे लेबेन, पृ. १७६-१७७
२. उद्धृत कार्पोरेट लाइफ इन एन्सि. इण्डिया, मजूमदार, पृ. ८६
३. ३।४।२
४. मजूमदार, कार्पोरेट लाइफ इन एन्सि. इण्डिया, पृ. ८६-९०
५. जायसवाल के. पी. हिन्दू पॉलिटी, अ. २३, ईत्सिमर-आ. ले. पृ. १६२, ब्लूमफील्ड सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट भाग ४२, पृ. ११३, राजबली पाण्डेय, पृ. ८६-९१ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस।
६. सूक्त ३, ४
७. प्रजापति प्रजाभिरुद्क्रामत्। (१६।१६।११)
८. मन्त्र ३।४।२
९. ये राजानो-जनान। (३।५।६)
१०. वैदिक इं. भाग २, पृ. २३४
११. मैत्रायणी सं.- २।६।५, ४।३।८
१२. ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह। (६।८८।३)

"राजसूय" की संज्ञा से अभिहित किया है।[२] संभवतः राजा का राज्याभिषेक राजसूय यज्ञ के पश्चात् किया जाना चाहिए। इसका आरम्भ राजा के अभिषेक से होना चाहिए। अभिषेक का सम्पादन करने के लिए पार्थिव जलों की अपेक्षा अन्तरिक्ष एवं स्वर्गीय जलों का आह्वान अधिक श्रेयस्कर माना गया है।[३] अभिषिक्त होकर राजा प्राणियों के लिए दुग्धादि वस्तुओं की सम्यक् व्यवस्था करने के कारण उत्पन्न हुए लोगों का अधिपति हुआ।[४] अधिराज, एकराट्, सम्राट, प्रजापति, विशपति आदि प्रमुख उपाधियाँ राजा के लिए निर्धारत की गई हैं। राजाओं में श्रेष्ठ राजा को अधिराज कहा गया है। एकराट् को राजन् से बड़ा माना गया है। अधिराज अन्य राजाओं द्वारा प्रशंसनीय एवं वन्दनीय माना गया है।[५] सम्राट को एकछत्र राज्य का भोक्ता कहा गया है।[६] ऐतरेय ब्राह्मण में समुद्र पर्यन्त पृथिवी के शासक को एकराट् कहा गया है।[७]

पुरोहितवाद का राजसत्ता के साथ विशेष सम्बन्ध माना गया है। राजा की सफलता विविध कर्मकाण्डों एवं अभिचारों पर ही निर्भर होती है। राजा के लिए यह निर्देश है कि वह समस्त प्रजा वर्ग की आकांक्षाओं का समादर करे।[८] इस कारण राजा का चयन प्रजाजनों द्वारा निर्वाचन पद्धति से सम्भव होता है। राजा के सगे-सम्बन्धी[९], रथकार, कर्मकार, सूत, ग्रामणी तथा अन्य प्रमुख लोगों के द्वारा राजा के निर्वाचित होने का सन्दर्भ प्राप्त होता है।[१०] अतः राजा को सदैव प्रजाजनों को अपने अनुकूल बनाने की चेष्टा करनी चाहिए।[११]

अथर्ववेद के एक सूक्त से राजा की पुनर्स्थापना पर प्रकाश पड़ता है।[१२] सूत्रकार कौशिक[१] का कथन है कि इस सूक्त का प्रयोग राज्य से निष्कासित राजा की पुनर्स्थापना

---

१. सत्यधर्मा प्रजापतिः। (७।२५।१)
२. राजसूयं स ... मन्यतामिदम्। (५।८।१); सूत्रकार कौशिक १।७।१, वैतान सू. ३६।७.
३. भूतो भूतेषु ... भूतानामधिपतिर्बभूव। (४।८।१, ४।८।५)
४. भूतो भूतेषु ... मन्यतमिदम्। (४।८।१)
५. इन्द्रो जयाति ... भवेह। (६।९८।१)
६. सम्राटेको वि राजति। (६।३६।३)
७. समुद्र पर्यन्तायाः पृथिव्या एकराट्। (ऐ. ब्रा. ७।८।१५)
८. विशस्त्वा सर्वा वा चरन्तु। (६।८७।१)
९. तेन त्वमग्न ... धेह्येनम्। (१।९।३, १।३०।१)
१०. ये धीरानो ... जनान्। (३।५।६-७)
११. उपस्तीन् ... जनान्। (३।५।७)
१२. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. ८७, ब्लूमफील्ड सै. बु. ऑफ. द ईस्ट, भाग ४२, पृ. १६२

हेतु हुआ है। निरङ्कुशता के कारण राजा की पदच्युति ऐतरेय ब्राह्मण के कथानक से सिद्ध होती है। जिसमें कहा गया है कि प्रजापति अपनी पुत्रियों (सभा व समिति) पर अत्याचार करता है। इस कारण राजा को पदच्युत कर दिया जाता है।[२] दूसरे मन्त्र में सौत्रामणि यज्ञ का कथन है। इससे यह समझना चाहिए कि राजा की पुनर्स्थापना के लिए सौत्रामणि यज्ञ का अनुष्ठान होता है। "अन्ये क्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्" पद निश्चय ही राजा के देश-निष्कासन की स्थिति को उद्भासित करता है। इसके पश्चात् राजा के मित्र उसका चयन करते हैं और यह कामना प्रवल होती है कि इन्द्र, अग्नि तथा अन्य देवता उसके राज्य में सुरक्षा प्रदान करें।[3]

राजा द्वारा युद्ध व शासन के कार्यों में सफलता प्राप्ति के लिए अभिचारों के प्रयोग का प्रावधान एक सूक्त में प्राप्य है।[४] विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन करने पर यह प्रतीत होता है कि सभा का स्वरूप स्थायी एवं सशक्त परिषद् के रूप में रहा है।[५] सायण ने सभा को विद्वान पुरुषों का समाज कहा है।[६] एक जातक ग्रन्थ में राग, द्वेष और मोह को त्यागकर धर्म कहने वाले सन्तों को सभा का सदस्य कहा गया है।[७] लुडविग् महोदय "कित्विषस्पृत" पद के आधार पर सभा को न्याय करने वाली परिषद् सिद्ध करते हैं।[८] सायण ने सभा के निर्णय को अनुलङ्घनीय कहा है।[९]

समिति को प्राचीन साहित्य में युद्ध या संग्राम के नाम से अभिहित किया गया है। यास्क ने समिति को संग्राम कहा है।[१०] अमरकोश में समिति युद्ध का पर्याय है।[११] सायण ने समिति को युद्ध के लिए एकत्र लोगों की सभा माना है।[१] अथर्व सिद्धान्तों में संग्राम शब्द

---

१. कौ. सू. १६।३०, ऐतरेय ब्रा. ३।३३
२. कौ. सू. १६।३०
३. अद्भ्यस्त्वा ... विश् आ पतेमाः। (३।३।३)
४. ४।२२
५. ७।१२।२
६. ७।१२ विदुषां समाजः।
७. न स सभा ... मनन्ति सन्तो। (जातक ५।५०६)
८. ये ते ... सन्तु सवाचसः। (७।१२।२)
६. ऋग्वेदं-३।२५४।१०, ७१
१०. एषः समितिः संग्राम नामानि। (१।२)
११. समित्याजिसामिधुथ। (अमरकोश २।६।२१०)

समिति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[२] इन विवरणों से यह निश्चित होता है कि समिति प्रमुख रूप से युद्धकालीन सभा हें समिति के सदस्य को सामित्य की संज्ञा दी गई है।[३]

विदथ

व्हिटने महोदय विदथ को काउन्सिल कहते हैं।[४] यह धार्मिक संस्था ज्ञात होती है। इसके प्रबन्धकों को देव कहा गया है।[५] यह स्वर्ग का ज्ञान कराने वाली संस्था कही गई है।[६] इसमें स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं।[७]

सूत

अथर्ववेद में सूत का नाम ग्रामणी के साथ ही अङ्कित है। अन्य संहिताओं में उसे रत्निनों की सूची में उद्धृत किया है।[८] इससे सूत राजकर्मचारी सिद्ध होता है। भाष्यकारों ने सूत को राजा का सारथी स्वीकृत किया है। इसी मत के समर्थक रीथ,[९] व्हिटने[१०] और ब्लूमफील्ड[११] भी हैं।

स्थपति

इसका उल्लेख कृमिनाशक के प्रसङ्ग में हुआ है।[१२] यह राजकर्मचारी कहा गया है। त्सिमर महोदय इसे उच्च न्यायाधीश की संज्ञा देते हैं।[१३] कीथ व मैक्डानल गवर्नर मानते हैं जिसमें न्यायिक व प्रशासकीय शक्तियाँ निहित हैं।

---

१. सायण सूक्त ७।१२
२. ये संग्रामाः ... वदाम्यहम्। (१२।१।५६)
३. यन्त्यस्य ... एवं वेद। (८।१०।६।(११))
४. अथर्व संहिता का अनुवाद - पृ. ७४४
५. यदुस्त्रियास्वाहुतं ... रोचने दिविः। (७।७३।४)
६. दिव्यं स्वर्विदं। १८।१।१२५, होतारं विदथाय जीनन्। (१८।१।२०)
७. गृहान् गच्छ ... वदासि। (१४।१।२०) ३, ५, ७, पञ्चविंशब्रा. ६।१।४)
८. काठक सं. २।६।५
९. सेण्ट पीटर्स बर्ग डिक्सनरी, सूत
१०. अथर्ववेद का अनुवाद - सं. पृ. ६२
११. सै. बु. ऑफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ. ११४
१२. हतो राजा कृमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। (२।३२।५, ५।२३।११)
१३. वेबर इण्डिशे स्टूडियन, १०, १३ नोट ३।१३; कात्यायन श्रौ. सू. १।१।१२

क्षत्तृ

भाष्यकार महीधर ने इसे प्रतिहार[1] और सायण ने अन्तः पुराध्यक्ष[2] माना है। व्हिटने महोदय इसका अर्थ विभाजक[3] करते हैं। एक मन्त्र में ये धन को ले आने वाले तथा एकत्र करने वाले कहे गये हैं।[4]

परिवेष्ट्री

परिवेष्ट्री हाथ में पात्र लिये हुये अतिथि को भोजन परोसता उल्लिखित है।[5] ये कदाचित सेवक का कार्य करता रहा होगा।

पुरोहित

आथर्वणिक राजनीति के सिद्धान्तों में पुरोहित को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। यह राज्य के धार्मिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में अधिष्ठित हैं। युद्ध एवं शान्ति के समय कुशल राजनीतिज्ञ के समान परम सहायक है। एक सूक्त में वह शत्रुओं से राजा की संरक्षा के लिए अभिचार करता दृष्टिगोचर होता है।[6] मनु ने भी वेदशास्त्र के ज्ञाताओं को सेनापतित्व, राज्य तथा दण्डनेतृत्व के कार्य हेतु योग्य निरूपित किया है।[7] डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर का कथन है कि पुरोहित का वैदिककाल के रत्निनों में प्रमुख स्थान है और वह मन्त्रिपरिषद् के सदस्य के रूप में भी कार्य करता है। वह राजा का गुरू और अपने चमत्कारयुक्त अभिचारों द्वारा शत्रुओं से राज्य की रक्षा करने वाला है।[8] प्रो. ए. सी. दास पुरोहित को एक शक्तिशाली एवं योग्य व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[9]

ग्राम सङ्गठन

कई परिवारों के सङ्गठन से ही गाँव का निर्माण होता है और परिवार के गृहपति का स्थान भी राजा के समान ही अभिमत होता है। एक मन्त्र के द्वारा ग्राम-स्थापना की ओर सङ्केत मिलता है।[10] गाँव को ग्राम कहा गया है।[11] त्सिमर महोदय तत्कालीन ग्राम को कुटुम्ब और विश् के मध्य की शृङ्खला मानते हैं।[12] ग्रामीण जीवन सुखमय होता है। ग्रामों की पृथक्-पृथक् परिषद् हैं, जिन्हें कहीं-कहीं सभा की संज्ञा दी गई है।[13]

---

१. सायण – शत. ब्रा. ५।३।१।६
२. व्हिटने ३।२४।७ का अनुवाद
३. उपोहश्च ... मानमक्षितम्। (३।२४।७)
४. यत् क्ष ... तत्। (६।६।४६)
५. यत् परिवेष्टारः ... एवते। (६।६।५१)
६. ३।१६।२
७. मनुस्मृति १२।१००
८. अल्तेकर - स्टेट्स एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐ. इं. पृ. १६८
६. ए. जी. दास - ऋग्वैदिक कल्चर, पृ. ३०४
१०. परिग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि। (४।७।५)
११. यं ग्रामा विशतु इदमुग्र सहो मम्। (४।३६।८)
१२. आल्टिण्डिशे लेबेन १५६-१६०
१३. ये ग्रामा ... वेदम ते। (१२।१।५६)

शासन प्रबन्ध

अथर्व सिद्धान्तों के विश्लेषण से शासन के विषय में कुछ तथ्यों का किञ्चित् ज्ञान मिलता है।

राजस्व

कई स्थलों पर प्रजा की ओर से राजा के लिए आवश्यक कर देने का विवरण प्राप्त होता है। यहाँ कर के लिए बलि तथा शुल्क शब्द व्यवहृत हुए हैं।

१. बलि : बलि एक नियत कर है जो प्रजाजनों के द्वारा राजा के लिए दिया जाता है। सायण ने बलि का अर्थ कर या उपायन किया है।[१] उन्होंने कर के रूप में दी जाने वाली वस्तुओं में हिरण्य, रजत, मणिमुक्ता, हाथी, अश्व और अन्य उत्कृष्ट पदार्थों की गणना की है।[२] ह्विटने भी बलि का अर्थ कर ही करते हैं।[३]

२. शुल्क : अथर्व साहित्य में कर के लिए शुल्क शब्द का प्रयोग भी किया है। शुल्क को बलपूर्वक ग्रहण करना अनिवार्य माना गया है। पुरोहित या ब्राह्मण कर नहीं देता है।[४]

राजस्व का वितरण

यम के सभासद इष्टापूर्त का सोलहवाँ भाग प्राप्त करते हैं।[५] इसके पश्चात् के मन्त्र में शुल्क का वर्णन है।

राजस्व प्रणाली की आलोचना

अथर्व साहित्य में पुरोहित को मात्र कर्मकाण्ड के कार्य को अपनाने का निर्देश है। क्षत्रियों के लिए शासक के रूप में कार्य का सञ्चालन करते हुए संग्रह करने का कथन है। करों को चुकाने का कार्य वैश्यों के लिए ही निर्दिष्ट है।[६] व्यापार, कृषिकार्य तथा पशु-पालन का कार्य वैश्यों हेतु ही निर्धारित है। विश् शब्द प्रजाजन और अधिकांश रूप से वैश्यों का द्योतक है। वैश्यों के लिए "विशामत्ता" शब्द का ही प्रयोग हुआ। इसी आधार पर प्रो. हॉपकिन्स ने वैदिक कर-प्रणाली को विनाशकारी तथा जनता को पीसने वाली कहा है।[७] किन्तु

---

१. सायण भाष्य-३।४।२ बलिं अपायनं करं वा।
२. हिरण्यरजत ... मर्यीम् बलिम्। (१६।४५।४)
३. अथर्ववेद का अनुवाद पृ. ८६, घोषात्म - पृ. ५-६
४. ये ब्राह्मणं ... आसते। (५।१६।३) ब्लूमफील्ड भाग ४२, पृ. १७१, ४३३
५. य द्राजानो ... सभासदः। (३।३६।१)
६. शत. ब्रा. ११।२।६।१४
७. हॉपकिन्स - इण्डिया ओल्ड एण्ड न्यू, पृ. २४०

उसका मत उक्त पदों के शाब्दिक अर्थ पर आधारित है।[१] "विशामत्ता" का अर्थ प्रजा का भक्षण करने की अपेक्षा प्रजा का उपभोग करने वाला उचित है।

सेना तथा रक्षण

उक्त परम्परा में प्रत्येक राज्य में एक सङ्गठित सेना विद्यमान रहती थी।

सेना का सङ्गठन : एक प्रकरण में कहा गया है कि जब व्रात्य ने विश् का अनुगमन किया, तो सेना ने व्रात्य का अनुगमन किया।[२] इससे प्रतीत होता है कि सेना प्रजापति के अनुकूल है।

शस्त्रास्त्र युद्ध से सम्बन्धित एक सूक्त में धनुष, बाण, तलवार, परशु, त्रिषन्धि, उदार आदि शस्त्रास्त्रों का वर्णन प्राप्य है।[३]

त्रिषन्धि-प्रसिद्ध विचारक सायण त्रिषन्धि को सन्धानयुक्त वज्रायुध से समीकृत करते हैं।[४] व्हिटने महोदय इसे तीन जोड़ों का शस्त्रास्त्र स्वीकार करते हैं।[५] शिन्दे महाशय अर्बुद्धि, न्यर्बुद्धि और त्रिषन्धि को क्षेप्यास्त्र मानते हैं।[६]

१. उदार : यह विस्फोटक अस्त्र है, जो देखने में लघु होता है तथापि इसमें दग्ध करने की बहुत शक्ति होती है। इसे अग्न्यास्त्र कहा जा सकता है।[७]

२. असि : तलवार को असि कहा गया है।[८]

३. धनुष-बाण : बाण को इषु और धनुष को धन्वा कहा गया है।[९]

४. परशु : उस समय कुल्हाड़ी शस्त्रों में सम्मिलित थी। यह युद्ध के अतिरिक्त वृक्षादि के उच्छेदन में काम आती है।

---

१. अल्तेकर-ए. एस. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ए. इं., पृ. २६३
२. स विशोनु ... सुराचानु व्यचलत्। (१५।६।१-२)
३. ११।६।१
४. सायण सूक्त, ११
५. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ., ६५६, ६५६
६. रेलिजन एण्ड फिलौसफी ऑफ द अथर्ववेद, पृ. ६४
७. उदारांश्च प्रदर्शय। (११।६।१)
८. असीन् ... याद्धृदि। (११।६।१)
९. ये बाहवो ... वीर्याणि च। (११।६।१)

सैनिकों की वेशभूषा

प्राप्त प्रमाणों के अनुसार सैनिक उपर्युक्त शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहे। सैनिकों द्वारा अपनी सुरक्षा के लिए कवच के धारण करने का साक्ष्य भी मिलता है।[१]

युद्धकला

एक मन्त्र में 'कूट' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है जो विरोधी सेना को हजारों टुकड़ों में बाँटकर वध करने वाला है।[२] दीक्षितार कूट को छिपकर युद्ध करने की एक विधि मानते हैं।[३] सैनिकों के द्वारा पैदल तथा रथारूढ़ होकर युद्ध किये जाने का उल्लेख मिलता है।[४]

गुप्तचर विभाग

वैदिककाल का आदर्श शासक राजा वरुण समझा गया है। एक सूक्त में वरुण की स्तुति की गई है।[५] इस सूक्त के अध्ययन से तत्कालीन गुप्तचर विभाग के कार्यकलाप का ज्ञान होता है।[६] एक अन्य मन्त्र में कथन है कि देवताओं के गुप्तचर न किसी स्थान पर रुकते हैं और न ही नयनोन्मेष करते हैं।[७] ये बात अप्रत्यक्ष रूप से राजा के सङ्गठित और सक्रिय शासन विभाग का उन्मेष करती है।[८]

अन्तर्राज्य-सम्बन्ध

कुछ मन्त्रों से राज्यों के परस्पर सम्बन्धों की झलक प्राप्त होती है।

(क) राज्यों का सङ्घ

एक मन्त्र में कई राजाओं के एक साथ जाने का उल्लेख है।[९] सायण ने इस पर

---

१. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि। (७।११८।१)
२. अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कुटं सहस्रशः। (८।८।१६)
३. दीक्षितार, वार इन ए. इण्डियाः। पृ. ८४
४. ये रथिनो ... पतत्रिणः। (११।१०।२४)
५. ४।१६, अथर्ववेद का अनु. पृ. १७६
६. वृहन्ने ... इदं विदुः। (४।१६।१)
दिव स्पशः... पश्यन्ति भूमिम। (४।१६।४)
छिन्नन्तु सर्व ... तं सृजन्तु। (४।१६।६)
तस्य स्पशो ... सन्ति स सेतवे। (५।६।३)
७. न तिष्ठन्ति ... ये चरन्ति। (१८।१।६)
८. घोषल-यू. एन. इं. हि., पृ. ११०
९. सं स राजानो ... कुष्ठा अगुः। (१६।५७।२)

भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि राजा लोग दूसरे राष्ट्रों को जीतने के लिए एक ही साथ जाते हैं।[1] इससे यह ज्ञात होता है कि अथर्वकालिक नरेश प्रबल शत्रुओं पर आक्रमण करने के लिए संघ बनाते रहे हैं।

(ख) विजिगीषु नीति

अथर्वकालिक राजा सार्वभौम बनने की इच्छा करता हुआ प्रतीत होता है। एक सूक्त में उसको सार्वभौम बनाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।[2]

राज्य और जातियाँ

अधिकांश राज्यों और जातियों का प्रसङ्ग भयङ्कर रोग तक्मन के विरुद्ध किये गए अभिचार में मिलता है। उक्त सन्दर्भ में तक्मन (ज्वर) को रोगी पर से निर्वारित करते हुए उसे मगध, अङ्ग और गान्धार आदि प्रदेशों में अभिचारक प्रेषित करता है।[3]

मगध : अथर्व सिद्धान्तों में मगध शब्द का उल्लेख केवल एक स्थान पर ही हुआ है।[4] शतपथ ब्राह्मण[5] से प्रतीत होता है कि मगध ब्राह्मणों के प्रभाव क्षेत्र में बहुत पश्चात् प्रविष्ट हुआ।

मागध : मागधों का कथन अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में मात्र चार स्थलों में व्रात्य के मित्र मन्त्र, हंसी या गर्जन के रूप में हुआ है।[6] सामवेद के लाट्यायन श्रौतसूत्र से भी इसकी पुष्टि होती है।[7] मागधों को मनुस्मृति[8] में वर्णसङ्कर कहा गया है जिनकी उत्पत्ति वैश्य पिता और क्षत्रिय माता से हुई है।

अङ्ग : अङ्ग का अथर्ववेद संहिता में एक ही बार मगध के साथ उल्लेख हुआ है।[9]

व्रात्य : सर्वप्रथम व्रात्य विषयक विवरण अथर्ववेद के सम्पूर्ण पन्द्रहवें काण्ड में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण काण्ड पर दृष्टिपात करने से व्रात्य के दो स्वरूपों का

---

१. राजानः ... संहता भवन्ति। (१६।५६।२)
२. सूक्त ४।२२
३. गन्धारिभ्यो ... परिददमसि। (५।२२।१४)
४. ५।२२।१४
५. शत. ब्रा. १।४।१।१०
६. स उदतिष्ठत् ... व्यचलत्। (१६।२।१, १५।२।५, १५।२।१३)
७. लाट्यायन श्रौ. सू. ८।६।२८
८. मनुस्मृति, — १०।४७
९. पूर्वोक्त — ५।२२।१४

निर्धारण होता है। दैवी तथा मानवी। मानवी रूप का वर्णन १५वें काण्ड के ११ से १३ पर्यायों में उपलब्ध है, शेष में दैवी रूप का वर्णन है। इस साहित्य में व्रात्य को अतिथि के रूप में सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है। वेबर[1] ने मागधों से इनकी मित्रता के कारण व्रात्यों को मगध का निवासी माना है। परन्तु व्रात्य का अर्थ भ्रमण करने वाला होता है और अथर्ववेद में इसके समस्त दिशाओं में भ्रमण करने का वर्णन भी है। ये कृषि, व्यापार अथवा पठन-पाठन नहीं करते।[2] सामवेद के ताण्ड्यमहाब्राह्मण के उद्धरणों का अध्ययन करने के पश्चात् राजाराम, रामकृष्ण तथा भागवत महोदय ने व्रात्यों की अनार्य उत्पत्ति सिद्ध की है। ओल्डेन वर्ग ने व्रात्यों को वर्णसंकर और अब्राह्मण सिद्ध किया है। इसका आधार है व्रात्यों की मागधों से मित्रता। अथर्ववेद में मागध व्रात्य के मित्र रूप में चित्रित हैं।[3] बौधायन सूत्र में मागध को शूद्रपुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न कहा गया है।[4] मनु ने मागध को वैश्य पुरुष तथा विवाहित क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न कहा है।[5] ओल्डन वर्ग का मत ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि मागध से व्रात्य का सम्बन्ध मात्र इस बात का द्योतक है कि दोनों भ्रमणशील हैं। ताण्ड्य महाब्राह्मण में उल्लेख है कि व्रात्य लोग अदीक्षित होते हुए भी दीक्षित वचन बोलते हैं ये न ही कृषि और वाणिज्य करते हैं और न ही ब्रह्मचर्य का पालन।[6] सायण ने चार प्रकार के व्रात्यों का वर्णन किया है–निन्दित, कनीयस, ज्यायस और हीन। इन्हें ब्राह्मण व्यवस्था में समाहित करने के लिए चार प्रकार के यज्ञों का विधान है।[7]

धर्मशास्त्र में व्रात्यों का विशेष विवरण है। मनु एक श्लोक में द्विजाति, क्षत्रिय और वैश्य में अव्रती एवं सावित्री भ्रष्ट लोगों को व्रात्य कहते हैं।[8] इससे स्पष्ट होता है कि वर्णव्यवस्था के नियमों का उल्लङ्घन करने वाले लोगों को व्रात्य कहा गया है।

भूजवत : इसका उल्लेख अथर्ववेद के एक ही सूक्त में तीन बार हुआ है। सायण इसे पर्वत का नाम मानते हैं।[9] यास्क इसे हिमालय पर्वत का एक भाग मानते हैं।[10]

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लि. लन्दन, पृ. ११२
२. न हि ब्रह्मचर्य...वणिज्यां। (ताण्ड्यत्रा. १७।१।२)
३. मित्रो मागधो। (अथर्व. १५।२।५)
४. बौ. सू. पृ. १६।१७।७
५. मनुस्मृति - १०, ११, गौ. ध. सू. ४, १७
६. हीना एते ... वणिजां। (ताण्ड्यब्रा. १७।१।२)
७. ताण्ड्य ब्रा.- अ. १७
८. द्विजातयः ... विनिदर्शित। (मनु. १०।२०)
९. सायण - वैदिक इ। भाग २, पृ. १८८
१०. यास्क - निरुक्त। ६।८

महावृष : तक्मन के प्रसङ्ग में महावृष का भी नाम है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में रैक्वपर्ण नामक स्थान को महावृष क्षेत्र की संज्ञा से अभिहित किया गया है।[2]

गन्धार : गन्धार का भी तक्मन के सन्दर्भ में एक स्थान पर उल्लेख है।[3] गन्धार का उल्लेख ऋग्वेद[4] और ब्राह्मणों[5] में हुआ है।

बाह्लिक : अथर्ववेद में इस स्थान का नाम आर्यों द्वारा उपेक्षित एवं घृणित स्थानों में उद्धृत है।[6]

वैतहव्य : वैतहव्यों की एक जाति का अथर्ववेद में कई बार उल्लेख हुआ है।[7] ये वीतहव्य के वंशज हैं।[8] इनकी संख्या एक हजार है, जो सभी एक साथ शासन करते हैं।[9]

रूश्मों के राजा कौरम : अथर्ववेद के कुन्तापसूक्त[10] में रुश्मों के राजा कौरम का वर्णन है।[11] रुश्मों की संख्या ग्यारह सौ पचास कही गई है।[12] राजा कौरम ने एक ऋषि को दान दिया था।[13]

कौरव्य परीक्षित : उक्त सूक्त में ही राजा परीक्षित का भी कथन है। पाश्चात्य विद्वान ग्रिफिथ इस परीक्षित को प्राचीन करुओं का अनुवर्ती शासक मानते हैं।[14] अगले मन्त्र

---

१. महावृषान् मूजवतो वन्धवद्धि परेत्य। (५।२२।८)
२. छा. उप. ५।११।१
३. ५।२२।१४
४. सर्वाहमस्मि ... वाविका। (ऋ. १।१२६।७)
५. शत. ब्रा. ८।१।४।१०, ऐ. ब्रा. ७।३४
६. ५।२२।१४
७. ५।१८।१०-११, ५।१९।१
८. तां. वीतहव्य ... गृहेभ्यः। (६।१३७।१)
९. ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत। (५।१८।१०)
१०. सूक्त २०।१२७
११. इदं जना ... स्तविष्यते। (२०।१२७।१)
१२. षष्ठि सहस्रा ... ददमाहे। (२०।१२७।१)
१३. २०।१२७।३
१४. हिम्स ऑफ अथर्ववेद भाग २, पृ. ४३३

में इसे कौरव्य कुल का कहा गया है।[१] अतः यह परीक्षित और कुरुओं का ही वंशज प्रतीत होता है।

स्वराज्य और वैराज्य अथर्ववेद के अनुवादक ह्विटने[२] महोदय और वैदिक इण्डेक्स[३] के लेखकों ने "स्वराज्य" का अर्थ स्वयं शासक और पूर्ण शासक किया है। यह एक सनातन राज्य है। ऋग्वेद में सार्वभौम राजा को स्वराष्ट्र के रूप माना गया है।[४]

विराट् और वैराज्य अथर्ववेद में स्वराज्य की अनुगामिनी राजनीतिक अवस्था को विराट् कहा गया है।[५] तैत्तिरीय संहिता में स्वराज्य को विराज का आधार बताया गया है।[६] पुरुषसूक्त में वर्णन है कि उसके पश्चात् विराज उत्पन्न हुआ।[७] सूक्त ८।१० में ऋषि अथर्वा ने राजसंस्था के क्रमशः विकास की ओर सङ्केत किया है।

उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि आर्य जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त कुटुम्ब से ही शासन संस्था का विकास हुआ। सम्प्रभुता की उत्पत्ति पैतृक शासन के मूल में सन्निहित है।[८]

उपर्युक्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आर्यों ने एक दैवी शासन की कल्पना की थी, जिसका शासक सर्वोच्च देव समझा गया है। इससे पार्थिव राज्य की उत्पत्ति हुई, जो प्रारम्भिक अवस्था में सङ्गठन के अभाव में भयङ्कर हुई। यह राज्य आरम्भ में दुःखदायी था। यह कल्पना राजनीति के विद्वान हॉब्स के विचार के समान है। उसने भी प्रारम्भ में अराजकता को स्वीकार किया है।[९] शतपथ ब्राह्मण में भी वर्णन है कि एक समय अराजकता फैली हुई थी। स्वराज्य या आदर्श राज्य की प्राप्ति की सदैव कामना की जाती रही है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग के अन्तर्गत अथर्ववेदीय परम्परा के उन राजनैतिक सिद्धान्तों पर दृष्टिपात किया गया है जिनसे न केवल तात्कालिक स्थिति के सम्बन्ध में बोध होता है अपितु वर्तमान राजनीतिक सिद्धान्त एवं उनके व्यवहारिक पक्ष भी उन सिद्धान्तों पर आधारित हैं।

---

१. कुलायन् ... जायया। (२०।१२७।८)
२. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. ८१०
३. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ. ४६४
४. कीथ रिलीजन एण्ड फिलोसॉफी पृ. ६६, भाग ३१
५. विराड् स्वराज्यमभ्येति पश्चात्। (अथर्व. ८।६।६)
६. इयं वै ... पदधाति। (तै. सं. ५।५।४।१)
७. ततो विराड्.जायत। (अथर्व. १६।६, ऋग्वेद १०।६०।५)
८. पैगी एन. बी. पृ. ३८३
६. हॉब्स उद्धृत पैगी (अथर्व. पृ. ३८२)

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक-जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त

समाज का सङ्गठन

समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त

अन्य सभ्यताओं के समान ही अथर्वाङ्गिरस सिद्धान्तों में भी समाज की उत्पत्ति के लिए दैविक उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त है। जिसके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ये चारों ही वर्ण परमात्मा के द्वारा उत्पन्न हुए हैं। इनमें ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य कटिप्रदेश और शूद्रों की उत्पत्ति पैरों से मानी गई है।[1]

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत ब्राह्मण की उत्पत्ति अन्य ब्रह्मचारी के द्वारा भी मानी गई है।[2] क्षत्रिय को भी देवाधिदेव व्रात्य से उत्पन्न प्रदर्शित किया गया है।[3] विराट् पुरुष के द्वारा मनुष्यों की तरह, अश्व, गायें, बकरियाँ एवं अन्यान्य पशु भी उत्पन्न हुए हैं।[4]

पञ्चमानव

अथर्वाङ्गिरस के सिद्धान्तों में कतिपय स्थानों में पञ्चमानव इस पद का उल्लेख भी मिलता है।[5] ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तर्गत प्रतिपादित देव, गन्धर्व और अप्सरा, सर्प तथा पितृगण की व्याख्या से ऐसा प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त की ओर सङ्केत करता हो।[6] औपमन्यव ने चार वर्णों एवं निषादों को सम्मिलित किया है। यास्क गन्धर्व, देव, असुर, पितृ और राक्षस को मानते हैं।[7] आधुनिक पाश्चात्य विद्वान राथ और गिल्डनर चारों दिशाओं के निवासी एवं उनके समीपवर्ती आर्यों को ही स्वीकार करते हैं।

प्रसिद्ध विचारक जिमर का इस सम्बन्ध में मत है कि पञ्चमानव के अन्तर्गत अनु, द्रुह्य, यदु, तुर्वस एवं पुरु को मानना चाहिए।[9] इन समस्त विचारों में से कोई भी विचार

---

1. ब्राह्मणोऽस्य... शूद्रो अजायत। (१९।६।६)
2. पूर्वो जातो ब्राह्मणो ... ब्रह्मज्येष्ठं। (१५।५।५)
3. सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत। (१५।८।१)
4. तस्मादश्वा ... अजावयः। (१९।६।१२, १९।६।१४)
5. तस्मै ... पञ्च कृष्टय। (५।१७।९, १९।१७।६)
6. ऐत. ब्रा. ३।३१
7. यास्क निरुक्त ३।२
8. वै. इ. भाग १, पृ. ४२७, हिन्दी संस्करण
9. वै. इ. भाग १, पृ. ५२८

विशेष रूप से तर्कसङ्गत एवं युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। इसका आंशिक समाधान अथर्वाङ्गिरस के सिद्धान्तों पर अवलम्बित अथर्ववेद में भी किञ्चित् ही हुआ है।[१]

वर्ण-व्यवस्था

अथर्वाङ्गिरस के सिद्धान्तों में वर्ण शब्द का उल्लेख तीन रूप से प्राप्त होता है।[२] एक स्थान पर यह वर्ग के रूप में और दो स्थलों में रङ्ग के रूप में हुआ है।[३] उक्त प्रमाण से आर्य एवं दास दो प्रकार के वर्णों की जानकारी प्राप्त होती है। एक मन्त्र में चारों वर्णों का एक ही साथ उल्लेख हुआ है जो कि इस सिद्धान्त के प्रबल रूप से प्रमाणित होने का साक्षी है।[४]

ब्राह्मण : उक्त परम्परा के मूलभूत आधार सिद्धान्तों में ब्राह्मण को विशिष्ट व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया है क्योंकि ब्राह्मण की उत्पत्ति साक्षात् भगवान् के मुख से ही बताई गई है।[५] ब्राह्मणों के लिए यह मत सुदृढ़ रूप से मान्य है कि उन्हें व्रत एवं तप का आचरण मुख्य रूप से करना चाहिए।[६] यहाँ ब्राह्मणों को प्रमुख रूप से पुरोहित के रूप में मान्यता प्राप्त है। इनका यज्ञ और अग्नि दोनों से ही घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया है। पुरुषसूक्त के अन्तर्गत इन दोनों की ही उत्पत्ति विराट पुरुष के मुख से वर्णित है।[७] ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में स्वर्ण, पकवान तथा दूध देने वाली गाय प्रदान करना चाहिए। इस परम्परा के ऋषि राष्ट्र की उत्पत्ति ब्राह्मणों एवं ऋषियों के द्वारा मानते हैं।[८]

क्षत्रिय : सर्वप्रथम इस परम्परा में क्षत्रिय शब्द के अर्थ को क्षत्र[९], क्षत्रिय,[१०] राजन्य[११] और नृपति[१२] के रूप में ग्रहण किया गया है। मुख्य रूप से क्षत्र शब्द शासक, प्रभुत्वशक्ति[१३] के रूप में ही स्वीकृत किया गया है। सायण ने भी क्षत्राणाम् शब्द का अर्थ क्षत्रियाणाम् माना

---

१. जनं बिभ्रती .. यथौकसम्। (१२।१।४५)
२. १।२३।२, ११।३।८, २०।११।६
३. वर्णः परा शुक्लानिपातम। (१।२३।२), हरितं वर्णः (११।३।८), हत्वी वर्णयावत्। (२०।११।६)
४. पुरुष सूक्त (१६।६।६)
५. १६।६।६
६. ब्राह्मणः व्रतचारिणः। (४।१५।१३)
७. ब्राह्मणोऽस्य .. अजायता। (१६।६।६)
८. स्थमगन् ... सुदुधा वर्याधाः। (१८।४।५०)
९. २।१५।४, १२।५।८
१०. ब्रह्म न क्षत्रं च ... क्षत्रियरूप। (१५।५।११)
११. वशा माता राजन्यस्य। (१२।४।३२, १६।३२।८)
१२. इषुरिव दिग्धा ... विध्यन्ति पीयतः। (५।१८।१५)
१३. मयि क्षत्रं ... धारयता द्रविम्। (३१।५।२)

है।[1] राजन् शब्द भी शासक वर्ग के अर्थ का द्योतक माना गया है।[2] नृपति शब्द का विवेचन भी इस अभिप्राय के आधार पर ही हुआ है।[3] क्षत्रिय को एक ब्राह्मण विरोधी वर्ग के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।[4] सामाजिक महत्त्व की दृष्टि से क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के पश्चात् तथा वैश्यों से पूर्व मान्य हुआ है। क्षत्रियों की उत्पत्ति का आधार विराट् पुरुष की भुजा है।[5]

क्षत्रियों की कार्य-प्रणाली एवं उनके लक्ष्य के सम्बन्ध में अथर्वाङ्गिरस परम्परा में विवेचन हुआ है। इसी सन्दर्भ में ब्लूमफील्ड यह मानते हैं कि क्षत्रियों के सम्बन्ध में किये गए विस्तारपूर्वक वर्णन के कारण ही अथर्ववेद का एक नाम क्षत्रवेद भी पड़ा।[6] व्हिटने क्षत्रिय को राजा की विशिष्ट प्रणाली के साथ सम्बद्ध करते हैं।[7] क्षत्रिय का मुख्य अस्त्र धनुष रहा है।[8]

वैश्य : वैश्य शब्द विश् एवं आर्य शब्दों का समानार्थक है। इनकी गणना सामान्य प्रजाजनों के रूप में की गई है। कई स्थानों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं शूद्र के प्रकरण के उपस्थित होने पर वैश्य को आर्य शब्द से सम्बोधित किया गया है।[9] किसी-किसी स्थान पर आर्य वैश्य का उपनाम बताया गया है।[10] वैश्यों के लिए गोपति शब्द उपनाम के रूप में व्यवहृत है।[11] ये अपनी जीविकोपार्जन के लिए कृषि, पशुपालन एवं व्यवसाय को स्वीकार करते रहे हैं। हापकिन्स के मतानुसार वैश्यों का सम्बन्ध कृषि, पशुपालन एवं व्यवसाय के साथ निश्चित ही रहा है।[12] व्हिटने का यह मत सर्वथा ग्राह्य है कि गोपति का उल्लेख नृपति

---

१. ४।२२।२
२. सो रज्यत ततो राजन्यो जायत। (१५।८।१)
३. पृ. ४६, टिप्पणी क्र. ११
४. प्रियं मा कृणु ... चायांशच। (१६।३२।८; २।१५।४, १२।५।२)
५. बाहू राजन्यो भवत्। (१६।६।६)
६. ब्लूमफील्ड से. बुक्स ऑफ इं. भाग ४२, पृ. २५, शत ब्रा. १८।४।१४।१-४
७. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. १८८
८. धनुर्हस्ता ... वर्चसा बलेन। (१८।२।७०)
६. प्रियं मा दर्म ... चार्याय च। (१६।३२।८)
१०. तेनाहं सर्व ... यदहं धरिव्ये। (५।११।३)
११. अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. २५२
१२. हॉपकिन्स, वै. इं. भाग २, पृ. ३७३ हिन्दी संस्करण।

और ब्राह्मण के साथ एक ही मन्त्र में हुआ है।[१]

शूद्र : वर्णों की गणना के क्रम में शूद्र का चतुर्थ स्थान स्वीकृत है। सामाजिक दृष्टि से शूद्रों को हेय एवं उपेक्षित माना गया है। शूद्र के उत्पत्ति की परिकल्पना भी विराट्पुरुष के निम्न अङ्ग अर्थात् पैरों से की गई है।[२] इस जाति के निम्न होने पर भी मानवीय दृष्टिकोण के आधार पर उन्हें पर्याप्त स्नेहसूत्र में आबद्ध किया गया है।[३]

आश्रम-व्यवस्था

सामाजिक जीवन में जातियों के साथ ही आश्रम व्यवस्था का प्रयोजन भी आवश्यक माना गया है। आश्रम शब्द का प्रयोग अथर्वाङ्गिरस परम्परा में नहीं हुआ है, तथापि उसकी समुचित व्यवस्था का प्रारूप अवश्य प्राप्त है। इस व्यवस्था में छात्र को ब्रह्मचारी, गृहस्थ को गृहपति, तपस्वी को ऋषि के रूप में देखें, तो सही निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं।

(क) ब्रह्मचारी : इस परम्परा में ब्रह्मचारी शब्द का उल्लेख विशेष रूप से उपलब्ध होता है।[४] ब्रह्मचर्य अवस्था का शुभारम्भ मुख्य रूप से अध्ययन काल के अन्तर्गत ही माना गया है। एक स्थल पर ब्रह्मचारी को उपनीत होते प्रदर्शित किया गया है। उपनयन का अर्थ शिष्य को आचार्य के समीप लाना होता है। ब्रह्मचर्य व्रत के पालन करने का अधिकार ब्राह्मणों के साथ-साथ क्षत्रिय एवं स्त्री जाति को भी दिया गया है।

(ख) गृहस्थ : गृहस्थ को स्वधा प्राप्त करने की दृष्टि से पितरों एवं यज्ञ करने की दृष्टि से देवताओं का ऋणी माना गया है।[५] गृहस्थ के मुख्य कार्यों में अतिथि सेवा को ही अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ है। गृहस्थ के लिए अतिथि सेवा का महत्त्व एक यज्ञ से बढ़कर दर्शाया गया है।[६] अतिथि के लिए प्रदान किया जाने वाला तृणासन, अञ्जन तथा भोजन साक्षात् यज्ञ के लिए क्रमशः बर्हिष, घृत एवं पुरोडास के समान मान्य है।[७]

---

१. अथर्ववेद का अनुवाद - पृ. २५२, इषुरिव ... पीयतः। (५।१८।१५)
२. पदभ्यां शूद्रोऽजायत। (१९।६।७)
३. प्रियं मा ... शूद्राय चार्याय च। (१९।३२।८)
४. ११।५
५. स्वधाकारेण ... देवताभ्यः। (१२।४।३२)
६. सूक्त ९।६
७. यदुपस्तृणन्ति ... ते एव ते। (९।६)

(ग) वानप्रस्थ : अथर्वाङ्गिरस परम्परा में कुछ ऐसे भी सङ्केत अवश्य प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा उक्त परम्परा में वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के उल्लिखित होने का अनुमान लगाया जा सकता है। कतिपय स्थलों पर साधु एवं सन्तों का चित्रण प्राप्त होता है[1], जो इस बात का प्रतीक है कि इस परम्परा के कदाचित वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम का स्थान अवश्य विद्यमान होगा।

परिवार-संस्था

परिवार के प्रसङ्ग पर विचार करते समय निर्विवाद रूप से कुटुम्ब को एक समाज की इकाई के रूप में ग्रहण करना होगा। इस परम्परा में वर्णित विभिन्न पारिवारिक सदस्य पूर्ण मनोयोग के साथ अपनी एवं समाज की प्रगति में सर्वथा संलग्न रहते हैं। इसमें संयमित एवं सङ्गठित परिवार का दिग्दर्शन होता है।

(अ) गृहपति : इस परम्परा में परिवार को गृह के नाम से तथा परिवार के स्वामी को गृहपति की संज्ञा से अलङ्कृत किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि गार्हपत्य अग्नि का पूजन करने का विधान इसी कारण है कि इससे पारिवारिक कटुता एवं विपत्तियों का निराकरण होता है।[2]

(आ) गृहपत्नी : गृहपति के समान ही उसकी पत्नी को गृह-पत्नी कहा गया है जो कि यज्ञादि कार्यों में पति का समान रूप से सहयोग करती है। इसका स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। विवाहिता गृहपत्नी के लिए यह निर्देश दिया गया है कि वह अपने श्रेष्ठ आचरणों के द्वारा अन्यान्य पारिवारिक सदस्यों को अपने वश में करे।[3]

(इ) पितृ-प्रधानता : इस परम्परा के प्रवर्त्तक प्रचलित कुलों का नामकरण पितृ नाम के आधार पर ही करते हैं। कुल में प्रमुख स्थान पिता का ही होता है। विशाल के वंशज को वैशालेय[4] तथा वीतहव्य के वंशज को वैतहव्य[5] कहा गया है। इरावन्त के पुत्र को

---

१. उद्धर्षिणं मुनिकेशं जभ्यन्तं मरीमृशम। (८।६।१७) जटाभिस्तापसः। (७।७४।१)
२. प्रातः पातर्गृहपतिर्नो ... सामनस्य दाता। (१६।५५।३)
३. गृहानच्छ गृहपत्नी ... विदथमा वदासि। (१४।१।२०)
४. तस्यास्तक्षक वैशलेयो वत्स आसीत्। (८।१०।२६)
५. तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः। (६।३७।१, ५, १८।१०)

ऐरावत[1], नृषद ऋषि के पुत्र कण्व को नार्षद[2] अङ्गिरा के पुत्र को आङ्गिरस[3] कहा गया है।

(ई) परिवार के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध : इस परम्परा में समस्त पारिवारिक सदस्य एक साथ परस्पर सुसङ्गठित रूप से मिलकर निवास करते हुए दिखाई देते हैं।[4] जिसके फलस्वरूप विभिन्न परिवारों में परस्पर माङ्गलिक एवं कल्याणकारी भावना विद्यमान रही है। पुत्र पिता की आज्ञा का पालनकर्त्ता हो तथा माता के मानसिक विचारों से भी सामञ्जस्य स्थापित करे।[5]

विवाह-संस्कार

अथर्वाङ्गिरस के सिद्धान्तों में विवाह एक निश्चित एवं विकसित सामाजिक संस्था के महत्त्वपूर्ण रीति-रिवाज के रूप में स्वीकृत हुआ है। इसके मूलभूत संकलन अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड के एक सौ उन्तालीस मन्त्रों में विवाह-संस्कार का अत्यन्त विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। धार्मिक चेतना का विकास होने पर विवाह अनिवार्य कर्त्तव्य की श्रेणी में समाहित हो गया।[6]

(क) वर का अन्वेषण : अथर्व परम्परा में प्रस्थापित व्यवस्था के अनुसार कुमारी कन्या को विधिवत् नियमों का पालन करते हुए, अपने आचरण एवं चरित्र को सुसंयत रखते हुए जीवन व्यतीत करना चाहिए। इससे कन्या को मनोनुकूल एवं स्वस्थ पति प्राप्त हो सकता है।[7] इस सन्दर्भ में धाता के सत्य से पति प्राप्त करने का उल्लेख है।[8]

(ख) विवाह योग्य वर : उक्त परम्परा में विवाह को दो विकसित व्यक्तियों के सम्बन्ध के रूप में स्वीकारा गया है। पिता के घर में ही वृद्ध हो जाने वाली अथवा विवाह की इच्छा से अपने को अलङ्कृत रखने वाली कन्याओं के सन्दर्भ द्वारा यह

---

१. तां धृतराष्ट्र ऐरावतो धोक्। (८।१०।२६)
२. ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नाषदेन। (४।१६।२)
३. आङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निः। (१८।४।२८)
४. ३।३०
५. अणुव्रतः पितुः ... वदतु भद्रय। (३।३०।२, ३)
६. हि. सं., पृ. १६५- डॉ. राजबली पाण्डेय
७. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (११।५।१८)
८. २।३६।२
९. वै. इं., पृ. ५३६

बात सिद्ध होती है।[९]

महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व को कन्या के द्वारा निभाये जाने का सङ्केत इस तथ्य को प्रकाशित करता है कि कन्या का विवाह अल्प अवस्था में न करके अधिक अवस्था में ही करना चाहिए।

(ग) बहुविवाह : ऋषियों ने एक से अधिक पत्नियों को रखने का प्रावधान किया है। विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त पत्नी को सपत्नी कहा गया। एक मन्त्र में सपत्नी के विरुद्ध एक औषधि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है।[१] राजा के लिए तीन पत्नियों को रखने का निर्देश स्पष्ट रूप से उपलब्ध है। इस प्रकार के राजा की पत्नियों को क्रमशः महिषी, परिवृक्ता और वावाता आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। निरन्तर पुत्रों को जन्म देने वाली नारी महिषी की पदवी प्राप्त करती है।[२] परिवृक्ता राजा की उपेक्षित पत्नी है।[३] सर्वाधिक प्रिय पत्नी को वावाता नाम से सुशोभित किया गया है।[४]

(घ) बहुभर्तृत्व : अथर्व-परम्परा में बहुपत्नी की भाँति बहुभर्तृत्व की कल्पना नहीं की गई है। कतिपय ऐसे मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा एक पत्नी के अनेक पति होने का हठात् निष्कर्ष निकाला जा सकता है।[५] वेबर इस प्रकार के कथन को ऐश्वर्याभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[६]

(ङ) विधवा-विवाह : आथर्वणिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत प्रतिपादित हुए अंत्येष्टि काण्ड में मृत पति के साथ धर्म का पालन करती हुई स्त्री का पति की चिता पर लेटने का वर्णन मिलता है।[७] कतिपय नारियों के द्वारा अन्य विवाह करने की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। दूसरे पति का वरण करने वाली नारी को पुनर्भू नाम से अभिहित किया गया है।[८] दूसरे विवाह द्वारा विवाहित पति को दधिषु के नाम से सम्बोधित किया है।[९]

---

१. इमां खनाम्यौषधिं ... साधराभ्यः। (३।१८।१, ४)
२. इयमग्ने नारी ... महिषी भवति। (२।३६।३)
३. अथर्ववेद का अनुवाद, ग्रिफिथ २, पृ. ४३६; परिवृक्ता च महिषी। (२०।१२८।१०)
४. २०।१२८।११, अथर्व. का अनु. ग्रिफिथ, पृ. ४३६
५. आरोहं सूर्ये ... कृणुत्वम्। (१४।१।६१)
   आत्मन्वत्युर्वरा ... बीजमस्याम्। (१४।२।१४)
६. वैदिक इं., भाग १, पृ. ५४५
७. इयं नारी ... चेह धेहि। (१८।३।१)
८. समान लोको ... ददाति। (९।५।२८)
९. १८।३।२

अथर्व-परम्परा में नारी जाति के विभिन्न रूप

(क) कन्या : इस परम्परा में निश्चित रूप से पुत्री की अपेक्षा पुत्र का जन्म ही श्रेष्ठ माना गया है क्योंकि इससे सम्बन्धित जिस संस्कार का शुभारम्भ हुआ, उसे पुंसवन संस्कार के नाम से व्यवहृत किया गया है।[१]

(ख) कुमारी : विवाह के योग्य स्त्री को कुमारी नाम से जाना गया है।[२] इसी अर्थ में कन्या या कन्यला शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। ये कन्यायें पिता के घर से पति के घर जाने की इच्छा करती है।[३]

(ग) पत्नी : कन्या एवं कुमारी के अतिरिक्त स्त्री को पत्नी के रूप में भी स्वीकार किया है। इस परम्परा में प्रतिपादित नारी समर्थ स्त्री के साथ ही साथ अपने घरेलू कार्यों में दक्षता को प्राप्त करती हुई पति की वल्लभा के रूप में वर्णित हुई है।[४]

(घ) माता : सामाजिक दृष्टि से माता का स्थान सर्वोच्च माना गया है। पुत्र के लिए व्यवस्था है कि वह माता के सर्वथा अनुकूल रहे।[५] पुत्र को जन्म देने के कारण ही ऋषियों ने माता को जनित्री कहा है।[६] पुत्रोत्पन्न करने वाली माता ही समाज में सम्मानित मानी गई है।[७]

वस्त्र एवं आभूषण

वस्त्रों का धारण करना मुख्य रूप से शारीरिक सुरक्षा के लिए ही माना गया है।[८] एक मन्त्र में कुलों द्वारा वस्त्र प्राप्त करने का वर्णन मिलता है।[९] विवाह के अवसर पर

---

१. प्रजापरिनुमतिः ... दधदिह। (६।११।३)
२. इमां कुमारी ... वरेषु समनेषु। (२।३६।१)
३. उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात्पतिं यतीः। (१४।२।५२)
४. अथर्ववेद के सांस्कृतिक तत्त्व, पृ. ६५
५. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। (३।३०।२)
६. स मा ... प्रमिनीञ्जनित्रीम्। (६।११।३)
७. पुत्रांसं पुल ... जनयाश्ययान्। (३।२३।३)
८. वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति। (६।५।२६)
९. मे वस्त्राणि विश् एरयन्ताम्। (२।१।३)
१०. वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्। (१४।२।४१)

वधू के द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्रों को "वाधूय वस्त्र" कहा गया है।[10]

वस्त्रों के प्रकार

नीवी : शरीर के अधोभाग में धारण किये गये वस्त्र को नीवी कहा गया है।[1] इसे कटिभाग में धारण करने का वर्णन मिलता है।[2] इस वस्त्र को स्त्री एवं पुरुष दोनों द्वारा धारण करने का प्रावधान है।

उपवासस : शरीर को पूर्ण रूप से आच्छादित करने वाले वस्त्र को उपवासस् का नाम दिया गया है।[3] द्रापि शब्द भी उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[4] यह उत्तरीय वस्त्र के प्रतीक के रूप में स्वीकृत है। रङ्गहीन ऊनी एवं रेशमी वस्त्र को "तार्प्य" कहा गया है।

कम्बल : जो वस्त्र की दृष्टि से पर्याप्त सशक्त हो, उसे कम्बल कहा जाता है। आथर्वणिक संमय में इस कम्बल शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है।[5]

अञ्जिन : जिस वस्त्र को गुरुकुल के छात्र धारण करते हैं उसे अञ्जिन कहा जाता है।[6] इस वस्त्र का प्रयोग यज्ञादि कार्यों के लिए भी होता है।[7]

अन्य वस्त्र : पुरुषों को शिर की सुरक्षा के लिए पगड़ी धारण करने का निर्देश है।[8] कशिपु एवं उपबर्हण शब्द क्रमशः तकिये एवं गद्दे के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[9] स्त्री जाति के लिए रङ्गीन वस्त्र धारण करने की विशेष व्यवस्था दी गई है क्योंकि एक मन्त्र में नारी लाल रङ्ग का वस्त्र पहने हुए चित्रित है।[10]

केश-विन्यास : अथर्व-परम्परा में प्रतिपादित व्यवस्था में स्त्रियों के केशीय विन्यास के

---

१. वै. इं. भाग १, पृ. ५१६
२. गर्भत उग्रो ... नीविमार्यो। (८।६।२०)
३. १४।२।४९, ६५
४. द्रापये रात्या ५।७।१०, यो द्रापिं ... वस्ते। (१३।३।१)
५. सम्भले मलं ... दूरितं वयम्। (१४।२।७)
६. हरिवस्याञ्जिनेन च। (५।२१।७)
७. ११।५।६
८. वासो हरुष्णीषं। (१५।२।५)
९. यत्कशिपूपवर्हण .. एव ते। (९।६।१०)
१०. अमूर्या यन्ति ... लोहितवाससः। (१।१७।१)
११. बलीवं कृध्यो ... बाधिनिदध्मसि। (६।१३८।२, ३)

लिए क्रमशः कुम्ब एवं ओपरा शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[११]

सायण ने इसे स्त्री केशों के अलङ्करण के रूप में स्वीकार किया है।[१] वधू के केश शृंगार में कुटीर और ओपश का उल्लेख मिलता है।[२] केश सुरक्षा के लिए 'केशवर्धिनी' नामक औषधि के प्रयोग का विवरण प्राप्त होता है।[३]

खाद्य एवं पेय

(क) खाद्य : उक्त सिद्धान्तों में अन्न को प्रशंसनीय दृष्टि से देखा गया है।[४] इसी कारण महर्षि अथर्वा जौ और धान्य की उत्पादिका पृथिवी की भावुकता पूर्ण प्रार्थना करते हैं।[५] जौ और चावल की उपयोगिता के कारण ही इन्हें स्वर्ग के दो पुष्प और औषधि कहा गया है।[६]

मांस : अतिथि के सत्कार में मांस खिलाने का उल्लेख मिलता है।[७] गोमांस का दृढ़तापूर्वक निषेध वर्णित है।[८]

(ख) **पेय** : भोजन में दुग्ध का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसमें धेनुवाचक गाय के अधिक दुधारू होने का वर्णन मिलता है।[९] गृष्टि गाय का दूध अमृत के समान मीठा कहा गया है।[१०]

सुरा : अथर्व परम्परा में सुरा शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[११] एक मन्त्र में सुरोदक शब्द का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है।[१२]

सोम : आर्य सोमपान के अत्यन्त प्रिय रहे हैं। सोमरस को यज्ञादि के विशिष्ट अवसरों पर पान करने का निर्देश दिया गया है।[१३] इसके पान से विष का प्रभाव नष्ट हो सकता है।[१४]

---

१. कुरीरम् केशजालं कुम्बं तदाभरणम्। (६।१३८।३)
२. कुटीरं छन्द ओपश। (१४।१।८)
३. यत्क्षुरेण ... केशश्मश्रु। (८।२।१७) आयमान्त ... उदकेनेहि। (६।६८।१)
४. दीर्घश्मश्रु ११।५।६
५. यस्यामन्नं ... नमोऽस्तु वर्षभेदसे। (१२।१।४२)
६. ब्रीहिमत्तं ... माषमथोतिलम्। (६।१४०।२)
७. स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति। (६।६।४१)
८. यावती नामोषधीनां गावः प्रश्नन्त्यवन्ध्या। (८।७।२५, ८।३।१५)
६. यज्ञं दुहानं ... सदनं रयीणाम्। (१२।१।३४)
१०. दुदुहेहि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहानां। (८।६।२४)
११. तं सभा च ... सुरा चानुव्यचलम्। (१५।६।२)
१२. धृतहृदा ... सुरोदकाः। (४।३४।६)
१३. युज्यन्ते ... सोममिन्द्राय पातवे। (१२।१।३८, ६।६।१५)
१४. स सोमं ... चकारारसं विषम्। (४।६।१)

मधु : यज्ञ के अवसर पर भोजन के समय मधु प्रदान करने का विशेष प्रावधान किया गया है। मधु को वन की शाखाओं से निकालने का वर्णन हुआ है।[१]

तेल : एक मन्त्र में तेलकुण्ड का उल्लेख है।[२] अन्य प्रसङ्ग में अग्नि को तिल का तेल समर्पित किया गया है।[३]

घरेलू सामान

अथर्व सिद्धान्तों में अनेक नित्य आवश्यकता की वस्तुओं के विषय में विवरण मिलता है।

(क) पात्र

घरों में निवास करने वाले व्यक्ति भोजन के पात्र उपयोग में लाते हैं। उक्त कथन मन्त्र में आया है।[४] इस मन्त्र में अतिथि के लिए भोजन परोस कर ले जाने वाले परिवेष्ट्री का उल्लेख है। एक स्थान पर पात्र का उपयोग अन्न रखने की दृष्टि से किया गया है। कुछ प्रमुख पात्र इस प्रकार हैं –

स्रुवा : यह छोटे चँम्मच के आकार का होता है। इसका प्रयोग हवन के समय घी डालने के लिए किया जाता है। इसका वर्णन अनेक मन्त्रों में हुआ है। दूसरा नाम दर्वी है।[५]

द्रोण-कलश : सोमरस रखने के बड़े लकड़ी के पात्र को द्रोणकलश कहा गया है।[६]

कुम्भ : यह एक मिट्टी से निर्मित पात्र है जो यज्ञों में सामान्य रूप से व्यवहार में लाया जाता है।[७]

कांस : यह धातु या मिट्टी से निर्मित बर्तन है। यह पात्र जल भरने के कार्य में एवं दूध रखने के लिए भी उपयोगी माना गया है।[८]

चमस : इसका नाम देवों के पात्र के रूप में उद्धृत किया गया है।[९] उदुम्बर की लकड़ी से निर्मित है। इसमें यज्ञ के समय सोम रखने का विधान है।[१०]

वायव्य : यह वह पात्र है जिसके द्वारा यज्ञ में सोमपान किया जाता है।[११] असुरों का पात्र लोहे के द्वारा निर्मित होता है।[१२] पितरों के लिए उपयोग में आने वाला पात्र चाँदी के द्वारा

---

१. वनाः शाखां मधुमतीमिव। (१।३४।४)
२. तैलकुण्डमिव ... शुद्धमुद्धरेत। (२०।१३६।१६)
३. अग्ने तैलस्य ... वि लावय। (१।७।२, अथर्व. का अनु., पृ. ७)
४. यत् परिवेष्टारः पात्रहस्ताः। (६।७।५१)
५. ६।६।१७, ६।११४।३, ५।२७।५), पूर्णा दर्वे ... पुनरा पत। (३।१०।७)
६. द्रोणकलशाः। ६।६।१७, वै. इं. भाग-१, पृ. ४३१
७. १।६।४, ३।१२।७, ६।६।१७
८. शतं कंसाः शत दोग्धार। (१०।१०।५)
९. चमसः पात्रम्। (६।१०।२६)
१०. चमन्ति अदन्ति अत्र सोमं इति चमसः। (७।११५।३)
११. वायव्यानि पात्राणि। (६।६।१७)
१२. अयसपात्रं पात्रम्। (८।१०।२६)

निर्मित होता है।[१] एक जगह लौकी के पात्र का उल्लेख है।[२]

(ख) बैठने और सोने की सामग्री

आसन्दी : बैठने के लिए उपयोग में लाने वाली वस्तु को आसन्दी कहा गया है।[३] एक स्थान में व्रात्य के लिए आसन का वर्णन मिलता है।[४] आसन्दी के अन्तर्गत गद्दा, तकिया, बैठने के लिए आसन एवं पीछे की ओर से सहारा लेकर बैठने के लिए आश्रय इत्यादि वस्तुओं का उल्लेख मिलता है।[५] व्हिटने इसे एक ऊँची आराम कुर्सी की संज्ञा देते हैं।[६]

उपधान : गद्दे को ही उपधान के नाम से सम्बोधित किया गया है।[७]

पर्यंक : इस शब्द का अर्थ सिंहासन किया गया है।[८] यदा-कदा इसका प्रयोग शयन के निमित्त भी किया जाता है।

तल्प : यह शब्द नियमित रूप से शय्या के लिए प्रयुक्त हुआ है।[९]

(ग) अन्य सामान

शूर्प : इसे आधुनिक सूप की संज्ञा दी जा सकती है। मुख्य रूप से इसका उपयोग अन्न से "भूसा" पृथक् करने के लिए हुआ है। भूसी को दूसरे शब्दों में "तुषा" कहा गया है।[१०]

उलूखल : यह अनाज कूटने के काम आता है। परम्परागत रूप से इसका विशेष प्रयोग यज्ञ की वस्तुओं के लिए किया गया है। वर्तमान समय में इसका प्रयोग कूटने के प्रयोजन से ही होता है।

मूसल : उलूखल के साथ मूसल का उल्लेख भी हुआ है। इसी के माध्यम से अनाज को कूटने का कार्य सम्पन्न होता है।

जाल : मछली पकड़ने के लिए समाज के जिस साधन को अपनाया जाता है उसे जाल कहते हैं। अथर्व-परम्परा में इसका विशेष प्रयोग शत्रुओं के लिए किया गया है।[११] एक मन्त्र में

---

१. रजत पात्रं पात्रम्। (८।१०।२३)
२. अलाबुपात्रं पात्रम्। (८।१०।२६)
३. यदासन्यामुपधाने। (१४।२।६५)
४. १५।३।२
५. वै. इं. भाग १, पृ. ८०
६. अथर्व. का अनु., पृ. ७६५
७. १४।२।६५
८. पृ. ७६५
९. आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह। (१४।२।३१)
१०. शूर्पं पवित्रं तुषा। (९।६।१६)
११. ९।६।१५

आसुरों का जाल धातु के धागों से बना कहा गया है।[१]

मनोविनोद

यह परम्परा यद्यपि मनोरञ्जन के सम्बन्ध में अल्प सामग्री प्रदान करती है तथापि मनोविनोद पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

(अ) नृत्य-गान : पृथिवी सूक्त के अन्तर्गत प्राप्त एक मन्त्र नृत्य व गान के अस्तित्व की प्रामाणिकता सिद्ध करता है।[२] एक स्थल पर वाद्यों के अन्तर्गत दुन्दुभि का उल्लेख प्राप्त होता है।[३]

(ब) रथ-दौड़ : एक सूक्त में इसकी चर्चा हुई है। उक्त प्रसङ्ग में घोड़े के विभिन्न गुणों का वर्णन किया गया है।[४] कतिपय स्थानों में रथ-दौड़ के साथ-साथ नाव चलाने और उपवन में भ्रमण का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।[५]

(स) द्यूत-क्रीड़ा : अप्सराओं को द्यूत-क्रीड़ा में दक्ष माना गया है। दाँव पर लगायी धनराशि को जीतने के लिए अप्सराओं के आह्वान का प्रमाण प्राप्त है।[६]

द्यूत-विधि : जिसके द्वारा जुआ खेला जाता है उसे पासा या अक्ष कहते हैं।[८] किसी-किसी पासे को 'कलि' संज्ञा दी गई है।[६] पासा फेंके जाने वाले स्थान को अधिदेवन् कहा गया है।[६] ऐसी संख्या जो चार से विभाजित हो जाय, कृत कहलाती है।[१०] कुछ पासों के भूरे होने का वर्णन भी मिलता है।[११]

---

१. ८।५।८
२. यस्यां गायन्ति ... व्यैलबाः। (१२।१।४१)
३. यस्यां वदति दुन्दुभीः। (१२।१।४१)
४. जवस्ते अर्वन्निहितो ... पारयिष्णुः। (६।६२।२)
५. उद्यानं ते पुरुष ... वदासि। (८।१।६)
६. विचिन्वती माकिरन्ती ... तामिह हुवे। (४।३८।२-४)
७. इदमुग्राय ... अक्षेषु तनुवशी। (७।१०६।१)
८. घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडाती दृशे। (७।१०६।१)
६. यां ते ... अक्षेषु कृत्यां। (५।३१।६)
१०. ग्लहे कृतानि। (४।२८।२, वै. इं. भाग १, पृ. २)
११. अक्षान्यद् ... मृडन्त्वी दृशे। (७।१०६।७)

दाँव पर रखी वस्तुएँ : जुए के दाँव पर गायें, घोड़े, धन तथा स्वर्ण आदि रखे जाने का वर्णन दृष्टव्य है।[१] कहीं-कहीं पर पत्नी तक को दाँव पर लगाये जाने का सशक्त उल्लेख मिलता है।[२]

द्यूत-क्रीड़ा में अभिचार : द्यूत-क्रीड़ा में सफलता प्राप्त करने के लिए अभिचार जैसे कृत्यों का आश्रय लेने का उल्लेख प्राप्त है।[३] प्रस्तुत विषय पर विस्तारपूर्वक प्रकाश अथर्ववेद के तीन सूक्तों में डाला गया है।[४]

द्यूत-क्रीड़ा से क्षति : द्यूत कार्य से अत्यधिक क्षति होती है। इसकी पुष्टि आथर्वणिक सिद्धान्तों के अन्तर्गत की गई है। एक सूक्त में द्यूतकार के प्रायश्चित का हृदयग्राही चित्रण हुआ है।[५]

उपर्युक्त समस्त प्रमाण द्यूतक्रीड़ा के कष्टकारी पक्ष को उद्भासित करते हुए व्यक्ति को इससे दूर रखने का संदेश प्रदान करते हैं।

---

१. कृतं मे दक्षिणे ... गां क्षीरिणीमिव। (७।२०।८-६)
२. यस्मा ऋणं यस्य जायामुपेमि। (६।११८।३)
३. ५।३१।६
५. ४।३८।१।७-५०, ७।१०६।१, कौशिक सूत्र ४१।१३
५. यद् हस्ताभ्यां ... लोके अधिरज्जुरायत्। (६।१८।१-२)

पञ्चम अध्याय

धार्मिक-सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन

समाज का सङ्गठन

समाज की उत्पत्ति का सिद्धान्त

मनुष्य जीवन के लिए धार्मिक कृत्यों का अत्यन्त महत्त्व है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ऋषियों ने मानव जीवन के लिए उपयोगी व्यवस्था का निरूपण किया है। अथर्वाङ्गिरस परम्परा के अन्तर्गत समाज एवं व्यक्ति के हित की दृष्टि से धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। इसमें निर्दिष्ट धार्मिक मूल्यों पर विश्लेषण करते समय तत्कालीन जनजीवन में रोगों को दूर करने, दीर्घायु होने तथा संग्राम में शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उत्सुकता ज्ञात होती है वे लोग इस कार्य को सफल बनाने के लिए मन्त्र एवं तान्त्रिक प्रयोगों का आश्रय लेते प्रतीत होते हैं। यहाँ इस प्रकार के तन्त्र-मन्त्रों का बाहुल्य है।

धार्मिक कृत्य

१. रोगों एवं प्रेतादि के बन्धन से मुक्ति दिलाने वाले अभिचार

अथर्व-सिद्धान्तों के अनुयायियों की यह विचारधारा सर्वथा सत्य प्रतीत होती है कि रोग पिशाचों, राक्षसों और अभिचारकों आदि के कारण उत्पन्न होते हैं।[1] कई स्थानों पर रोगों एवं पिशाचों की पीड़ा के मध्य अन्तर करना कठिन होने की स्थिति में रोगों से मुक्ति प्राप्ति हेतु विशुद्ध चिकित्सात्मक पद्धति का परित्याग कर तन्त्र-मन्त्र की शरण में जाना पड़ता है। तक्मनाशन सूक्त में ज्वर को दूर करने के लिए अग्नि, सोम, वरुण और आदित्य आदि देवों की सहायता आवश्यक मानी गई है।[2] क्षय, कुष्ठ आदि रोगों से मुक्ति के लिए एक सूक्त[3] का पाठ करते हुए रोगी के रोगग्रस्त अङ्ग को लकड़ी के खण्डों में बाधकर, उसे चौराहे पर लाकर दूर्वा के गुच्छे से उसके शरीर को जल से सींचने का निर्देश है।[4] क्षेत्रिय, रोग, पाप, देवता निर्ऋृति, भगिनी के शाप, गुरु-द्रोह व वरुण के पाश से उत्पन्न माना गया है। इसे मन्त्रोच्चार एवं द्यावापृथिवी आदि देवों की सहायता से समाप्त किया जा सकता है।[5] अन्य रोगों के उन्मूलन के लिए बहुत से तन्त्र-मन्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है।[6]

---

१. अस्येन्द्र कुमारस्य ... उग्रेण वचसा मय। (५।२३।२)
२. अग्निस्तवमानप ... वरुणः पूतदक्षाः। (५।२२।१)
३. २।१० कौशिक सूत्र
४. कौशिकसूत्र-२७।७-८
५. क्षेत्रियात्वा निर्ऋत्या ... द्यावापृथिवी उभेस्ताम्। (२।१०।१)
६. सै. बु. ऑफ द ईस्ट, भाग-४२, विषयसूची
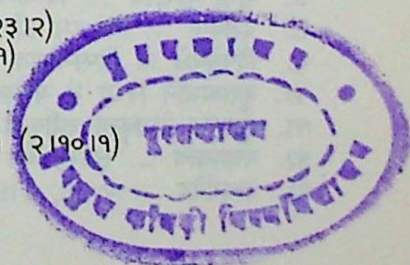
२. दीर्घायुष्य एवं स्वास्थ्य के लिए प्रार्थनाएँ

अथर्व-परम्परा में व्यक्ति के लिए निर्देश है कि वह चूड़ाकर्म, मुण्डन और उपनयनादि पारिवारिक उत्सवों पर दीर्घायुष्य के लिएं प्रार्थना करे। अथर्ववेद के चार सूक्तों में स्वास्थ्य तथा दीर्घायु की प्रार्थना मिलती है।[१] तीन सूक्तों में मृत्यु और रोगभय से मुक्ति हेतु स्तुतियाँ की गई हैं।[२] समृद्धि के लिए शङ्खमणि धारण करने का विधान है।[३]

३. दैत्यों, अभिचारकों एवं शत्रुओं के विरुद्ध टोने

अभिचार उन तान्त्रिक विधाओं की प्रक्रिया का नाम है जो शत्रु, राक्षस, पिशाच एवं जादू-टोनों से सम्बन्धित है। अभिचार सम्बन्धी विचारों से सम्बद्ध इस परम्परा में लगभग २५ सूक्त हैं। एक सूक्त में भ्रातृव्य, सपत्न, अराय, पैशाच और दानवों को एक ही अर्थ में ग्रहण किया गया है।[४] अभिचार में उल्लिखित कृत्य हैं–सपत्नबाधन, नैर्बाध, विनाशन, पीडन, मारण, वशीकरण, मोहन, स्तम्भन, उच्चाटन आदि।[५] अन्य स्थल पर गृह, पशु और मनुष्यों की सुरक्षा के लिए दानव के प्रति अभिचार किया गया है।[६] विष्कन्ध और कबव के विरुद्ध मन्त्रोच्चारण किया गया है।[७] इसके अन्तर्गत कतिपय औषधियों को प्रयुक्त करने का निर्देश है।[८] एक दिव्य औषधि की सहायता से अपने ऊपर प्रयुक्त कृत्या का प्रतिहरण करना चाहिए। कौशिक सूत्र में कृत्या प्रतिहरण के लिए इस सूक्त का उल्लेख है।[९] इसका नाम सम्भवतः कृत्यव्यधनि है।[१०] ये कृत्य समाज के विभिन्न लोगों, ब्राह्मणों, स्त्रियों और शूद्रों आदि द्वारा अपनाये गए हैं।[११] अभिचार के अन्तर्गत मन्त्रसिद्ध मणियों को भी एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है।[१२]

४. स्त्री कर्माणि

अथर्ववेद में स्त्रियों से सम्बन्धित कई कृत्य प्राप्त होते हैं। दो सूक्तों का प्रयोग पति-प्राप्ति के लिए किया गया है।[१३] स्त्री-प्रेम प्राप्ति के के लिए सात सूक्तों का प्रयोग

---

१. २।२८।३, १।७।५३
२. ५।३०।८, १।८।२
३. य नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणों मणिः। (४।१०।४)
४. भ्रातव्यचातनम् ... सदानवाचतने। (२।१८)
५. गोलस्टकर संस्कृत डिक्सनरी, अभिचार।
६. असौ यो ... नश्यतेतः सदान्वाः। (२।१४।३, ५)
७. शूनां कपिरिव ... विष्कन्ध दूषणम्। (३।६।४, ६)
८. दर्शयमा ... त्वा रम औषधे। (४।२०।६)
९. दिप्सोषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि। (५।१४।१, कौ. सू. ३६।७)
१०. कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि। (५।१४।६)
११. शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। (१०।१।३)
१२. यथाश्वत्थ ... सहस्व च। (३।६६, ६।६।८, १०।६।६, १६।२८-३३)
१३. अथर्ववेद ... २।३६, ६।६०

है।[1] ब्लूमफील्ड ने कौशिक सूत्र के अनुसार इनका वर्णन किया है।[2] सपत्नियों को वश में करने का भी वर्णन प्राप्त होता है।[3] पुत्र प्राप्ति के लिये[4], बन्ध्या करने के लिये[5], गर्भ दृढ़ करने के लिये[6] तथा सुखद प्रसव के लिए[7] विविध तन्त्र-मन्त्र उपयोग में लाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं।

५. सामनस्यानि

अथर्व वैदिक जन पारिवारिक वैमनस्य को देवताओं का प्रकोप समझते हैं। ये परिवार में सुख-शान्ति के लिए मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। यहाँ पुत्र को माता-पिता के अनुकूल होने, पत्नी को पति के अनुकूल प्रिय भाषण करने तथा भाई-भाई और बहिन-बहिन में परस्पर प्रेम करने के लिए शुभकामनायें की गई हैं।[8] मन्त्रणा, समिति, व्रत एवं चित्त की समानता के लिये एक मन्त्र में समान हवि से आहुति करने का वर्णन है।[9]

६. राजकर्माणि

सायण और कौशिक एक सूक्त[10] को सभा में विजय के लिए प्रयुक्त करने का विधान करते हैं। राजा के निर्वाचन[11], अभिषेक[12] और उसकी सम्प्रभुता[13], सफलता, पुनर्स्थापना[14] आदि के लिये भी कृत्यों को सम्पादित करने के निर्देश प्राप्त होते हैं। युद्ध सम्बन्धी कृत्यों में युद्ध विजय[15], सुरसा[16] आक्रमण[17], मूर्च्छा[18] आदि के लिये अभिचार प्रमुख हैं।

---

१. अथर्व. १।३४, २।३०, ६।८-९, ६।१०२, ३।२५, ६।१३९
२. सै. बु. ऑफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ. २७४, ३११, ४५६, ५१२, ५३६
३. इमां खनाम्योषधिं ... संविन्दते पतिम्। (अथर्व., ३।१८।१)
४. अथर्व., ३।२३, ६।११
५. ७।३५
६. ७।१७
७. १।११
८. सहृदयं सामनस्यं ... जातमिवाघ्न्या। (३।३०।१)
९. समानो मन्त्रः ... चेतो अभि संविशध्वम्। (अथर्व., ६।६४।२)
१०. कौ. सू., ७।२८, पृ. ३८, विधते ... सवाच स। (अथर्व. ७।१२।२)
११. अथर्व., ३।४
१२. वही ४।८
१३. वही ४।२२
१४. वही ३।३
१५. वही १।२०
१६. वही १।२१, १।२६
१७. वही ६।६८
१८. वही ३।१, २

युद्ध के नगाड़े भी मन्त्रों द्वारा सिद्ध किये जाने चाहिए।[१]

७. प्रायश्चित्तानि

अपशकुनों, भयङ्कर ग्रह यंत्रणा एवं दुर्घटना के निवारण के लिए भी प्रायश्चित्त परक तन्त्र-मन्त्र प्राप्त होते हैं।[२] कपोत और उलूक ये दो पक्षी अशुभ सूचक माने गये हैं।[३]

८. पौष्टिकानि

इसके अन्तर्गत वे कृत्य हैं जो गृह-निर्माण के लिए, कृषि के प्रारम्भ, बीजारोपण, फसल काटने और कृषि संरक्षा के लिये किये जाते हैं।

हवि सम्बन्धी कृत्य

कुछ कृत्य विशेष हवि के नाम से प्रचलित हैं। ये काम्य दृष्टियों के समान सरल और स्वतन्त्र प्रणाली वाले हैं।

(क) संस्राव्य हवि : इसकी आहुति के द्वारा लोग धन, जन और पशु वृद्धि की कामना करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[४]

(ख) यशो हवि : राजशक्ति का इच्छुक व्यक्ति यह हवि इन्द्र को प्रदान करता है।[५]

(ग) नैरहस्त हवि : शत्रु का हाथ काट लेने के उद्देश्य से यह हवि देवों को दी जाती है।[६]

(घ) सप्तर्षि हवि : भय से मुक्ति प्राप्त करने के लिए सप्तर्षियों के निमित्त यह हवि है।

(ङ) समान हवि : वैमनस्य को हटाने के लिए हृदय, मन्त्रणा समिति आदि के समान होने के लिये इस हवि की आहुति का विधान है।[७]

(च) नैर्बाध हवि : अपने को बाधारहित करने के लिए अग्नि में नैर्वाध हवि छोड़े जाने का उल्लेख मिलता है।[८]

---

१. अथर्व., - ५।२०, २१
२. अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण-ब्लूमफील्ड, पृ. ८३, ८५
३. यदूलको ... पदमग्नौ कृणोति। (अथर्व.-६।२६।१)
४. सं. सं. स्रवन्तु ... हविषा जुहोमि। (अथर्व. - २।२६।३)
५. यशो हविर्वर्धता ... नमसाना विधेम। (अथर्व.- ६।३६।१-२)
६. निर्हस्तेभ्यो ... हविषामहम्। (अथर्व.- ६।६८।२)
७. सामानो मन्त्रः ... चैतो अभिसंविशध्वम्। (अथर्व. - ६।६४।२)
८. नैर्बाध्येन हविषेन्द्र एनं पराशरत्। (अथर्व.- ६।७५।१)

(छ) भूत हवि : भूत हवि त्वष्टा को प्राप्त करने से नवदम्पत्ति के प्रेम में वृद्धि हो जाती है।[1]

(ज) ध्रुव हवि : राजसत्ता को सुदृढ़ करने हेतु यह इन्द्र के निमित्त प्रदान की जानी चाहिए।[2]

सवयज्ञ

स्वर्ग प्राप्ति के लिये सवयज्ञों को करने का उल्लेख मिलता है। इन यज्ञों की संख्या बाईस निर्धारित की गई है। जिनका मुख्य सूत्र रूप में उल्लेख क्रमशः किया जा रहा है।

(क) ब्रह्मोदन सव : पके चावल का तीसरा भाग ब्राह्मणों को खिलाया जाता है तथा शेष दो भाग पितरों के लिए अर्पित किये जाते हैं।[3] सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति होता है।[4] ब्राह्मणों को दान के रूप में गाय तथा स्वर्ण देने का प्रावधान किया गया है।[5]

(ख) स्वर्गोदन : ब्राह्मणों को ओदन[6] का भोज और कुछ दक्षिणा देकर स्वर्ग प्राप्ति की कामना की गई है।

(ग) चतृ आशापालसव : इसमें प्राणियों के अध्यक्ष चारों ओर के दिग्पालों को घृत और अस्राम हवि प्रदान की जाती है। इससे व्यक्ति की नव प्रकार से रक्षा होती है।

(घ) कार्की सव : गाय के श्वेत बछड़े को कार्की कहा जाता है। इस यज्ञ में कार्की ब्राह्मण को दिया जाता है।[7]

(ङ) अवि सव : इसमें श्वेत बकरे के दिये जाने का विवरण प्राप्त होता है। इस बकरे को स्वधा के रूप में देने वाला व्यक्ति यमलोक के कर से मुक्त समझा गया है।[8]

---

१. तेन भूतेन ... रसेनाभिवर्धताम्। (अथर्व.- ६।७८।१)
२. इन्द्र इवेह ... धवं ध्रुवेप हविषा। (वही.-६।८७।३, ६।८८, ८।६५)
३. त्रैधा भागो निहितो यः पुरा। (वही-११।१,५)
४. सै. बु. ऑफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ. ६१०
५. इदं मे ज्योतिस्मृतं ... पितृषुयः स्वर्गः। (वही-११।१।२८)
६. सम्पूर्ण सूक्त
७. कौशिक सू.-६६।१३
८. अथर्व.- ३।२६।१

(च) अजोदन सव : इस कृत्य से भी पका चावल और बकरा प्रदान करने वाला व्यक्ति स्वर्ग में देवों के साथ निवास करता है।[1]

(छ) पञ्चोदन सव : इस सव में पाँच ओदन के चरुओं के साथ बकरे की बलि दी जाती है। एक सूक्त में अजपञ्चोदन के विराट् स्वरूप का वर्णन किया गया है।[2]

(ज) ब्रह्मस्योदन : इस सव का ओदन ब्रह्म के मुख से निकला है। यह ओदन स्वर्ग प्राप्ति के लिए ब्राह्मणों को प्रदान किया जाता है।[3]

(झ) अतिमृत्यु सव : मृत्यु से बचने के लिए इस कृत्य को अपनाया जाता है।

(ण) अनुड्डुह सव : अनुड्डुह सव में ब्राह्मणों को बैल प्रदान किया जाता है। इसे सम्पूर्ण दुःखों का नाश करने वाला बताया गया है।[4]

(त) पृश्नि और पृश्निगो सव : इस पृश्नि सव में चितकबरी गाय की बलि दी जाती है।[5]

(थ) ऋषभ सव : एक सम्पूर्ण सूक्त में[6] ऋषभ सव का वर्णन प्राप्त होता है।

(द) वशासव : एक स्थल पर वसवंशी गाय की बलि देने का वर्णन प्राप्त होता है।[7]

(ध) शालासव : इस सव में घास-फूस का घर बनाकर ब्राह्मणों को दिया जाता है। इस कृत्य को यज्ञ का रूप दिया गया है।[8]

(न) वृहस्पति सव : इस सव में पके चावल की आहुति दी जाती है, जिससे द्वेष करने वालों का वध हो जाता है।[9]

---

१. अथर्व.- ४।४।१
२. सूक्त-६।५
३. इममोदनं .. लोकजित स्वर्गम्। (अथर्व.-४।३४।८)
४. अथर्व. - ४।११।३
५. वही-६।३१
६. ब्राह्मणेभ्यः ... स्वगोष्ठे व पश्यते। (अथर्व. - ६।४।१६)
७. वही-१२।४
८. वही-६।३
९. वही-११।३

(प) उर्वरा सव : इस कृत्य में प्रशस्त एवं जुता हुआ खेत ब्राह्मण को दिया जाता है।[1]

देव मण्डल

अथर्ववेद का धर्म लोकप्रिय है, जिसके संस्थापक, अथर्वन्, अङ्गिरस, भृगु और वसिष्ठ आदि ऋषिगण हैं। अथर्वन् ऋषि अग्नि के प्राचीनतम पुरोहित हैं और याज्ञिक मूल्यों के समर्थक हैं। इस रूप में ये अवेस्ता के अथर्वन् ही हैं। गोपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ब्रह्म ने तप से भृगु, अथर्वन और अङ्गिरस को उत्पन्न किया। इससे दस अथर्वन, दस अङ्गिरस उत्पन्न हुए। इन्होंने जिस वेद को गाया, वह तप से उत्पन्न और सभी वेदों से उत्तम हुआ। इन ऋषियों के मत में अथर्ववेद की दैवी शक्तियाँ पौधों, औषधियों, मन्त्रसिद्ध मणियों, मनुष्य की भावनाओं और संवेगों से सम्बन्धित है। अथर्व वैदिक पुरोहित अपने कृत्यों को सन्ताप अग्नि में सम्पादित करता है। इन कृत्यों का प्रधान उद्देश्य गृह्य सूक्तों को महत्त्व देना है। इस पद्धति के अधिष्ठाता देवगण पौधों में भी निवास करते हैं। पौधे तथा औषधियाँ अभिचार व भैषज्य दोनों में प्रयुक्त हैं। इस समय के सामाजिक देवों में व्रात्य, अतिथि और ब्रह्मचारी का विशेष स्थान है। देवों की संख्या एक स्थान में तैंतीस बताई गई है।[2]

देवों की स्थिति के अनुसार इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है।[3] दो कोटियाँ और मानी जाती हैं। ये निम्नाङ्कित हैं :-

१. द्युलोक स्थानीय　२. अन्तरिक्ष स्थानीय　३. पृथिवी स्थानीय
४. भावात्मक　५. अन्य

१. द्युलोक स्थानीय

इस वर्ग में निम्नलिखित देव प्रमुख हैं।

मित्र : प्रातःकाल उगते हुए रोहित (लाल सूर्य) को मित्र कहा गया है।[4] यह वृष्टि का अधिपति देवता है।[5]

सविता : सूर्य के दूसरे रूप को सविता कहा जाता है। ये भाग्यदेव हैं।[6]

सूर्य : सूर्य नेत्र के अधिपति हैं।[7] इनके उदित होते ही पाण्डु और हृदयरोग ठीक हो जाते हैं।[8]

---

१. अथर्व. - ६।३०, कौशिक सू.; ६६, ६७
२. यस्य त्रयत्रिंश देवा, अङ्गे सर्वे समाहिताः। (वही-१०।७।१३)
३. ये देवा दिविष्ठ ... पशुष्वप्स्वन्तः। (वही-१।३०।३)
४. मित्रो भवति प्रातरुरुधन्। (वही-१३।३।१३)
५. वही-५।२४।५
६. सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः। (वही-२।३६।८)
७. सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः। (वही-५।२४।६)
८. अनुसूर्यमुपदयतां हृदयोतो हरिमा च ते। (वही-१।२२।१)

रोहित : यह रात्रि का श्वेतपुत्र है। रोहित को संसार का स्रष्टा कहा गया हैं उसमें परमेष्ठी विराट्, प्रजापति और अग्नि वैश्वानर स्थित है।[1]

पूषन : ये समृद्धि के देवता हैं। यह कृषि के रक्षक हैं।[2]

वरूण : वरुण जल का स्वामी है।[3] यह पापियों को जलोदर[4] और तक्मन[5] रोगों द्वारा पीड़ित करता है।

विष्णु : इनका प्रयोग तन्त्र-मन्त्रों में किया गया है। गर्भाधान कृत्य में विष्णु का आह्वान किया गया है।[6]

आश्विन : ये युगल देवों के चिकित्सक हैं तथा बलवीर्य प्राप्त कराते हैं।[7]

२. अन्तरिक्ष स्थानीय

इन्द्र : यह शक्तिशाली देवता एकाष्टका[8] का पुत्र कहा गया है।[9] वह वज्र से असुरों का नाश करने वाला है। अग्नि की सहायता से उसने पणियों को जीता।[10]

पर्जन्य : यह वृष्टि करने वाला देवता है। वर्षा प्रजा का प्राण और स्वर्ग का अमृत है।[11]

[illegible] : ये हजारों नेत्र वाले देव हैं।[12] इनकी एक उपाधि पशुपति है, क्योंकि पाँचों प्रकार के [illegible] उन्हीं के हैं।[13]

[illegible]त : ये पृश्नि के पुत्र हैं तथा इन्द्र के साथ संयुक्त होकर शत्रुओं का नाश करते हैं।[14] [illegible]द्र इनका पिता है।[15] मरुद्गण पर्जन्यपोषी[16] कहे गये हैं।

---

१. यस्मिन्विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानर। (वही-३१।३।५)
२. इन्द्रः सीता नि गृहणातु तां पूषामि रक्षतु। (वही-३।१७।४)
३. उतौ समुद्रौ ... उदके मिलीनः। (वही-४।१६।३)
४. उन्मुञ्चन्तीविवरुणा उग्रा या विशद्षणी। (वही-८।७।१०)
५. यदि वा राज्ञो ... तक्मन। (वही-१।२५।३)
६. विष्णुर्योनि कल्पयतु (वही-५।२५।५)
७. एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलभोजश्च प्रियताम्। (वही-६।१।१७)
८. वैदिक माइथॉलाजी-२, २४
९. इन्द्र पुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः। (अथर्व.-३।१०।१३)
१०. येनाग्निा पणिनीन्द्रो जिगाय। (वही-४।२३।५)
११. वही-४।१५।१०
१२. भव व सर्व सूक्त-४।२८, ७।२८।३, ११।१२।१७
१३. पशुपते नमस्ते ... पुरुषा अञ्जावयः। (वही-११।२।६)
१४. यूयमुग्रा मरुतः ... प्रमृणीत शत्रून। (वही-५।२१।११)
१५. मरुतां पिता पशूनामधिपतिः। (वही-५।२४।१२)
१६. गणास्तत्वोध ... घोषिणाः पृथक्। (वही-४।१५।४)

३. पृथिवी स्थानीय

अथर्व वैदिककाल का व्यक्ति उक्त देवों की अपेक्षा पृथिवी पर स्थित कुछ शक्तियों को भी देवता के रूप में स्वीकार करके उनकी पूजा करता है।

अग्नि : पिशाचों और राक्षसों को भगाने के लिए अग्नि की प्रार्थना के साथ आहुति भी प्रदान की जाती है।[1]

अग्नि का स्वरूप : अग्नि ऋषियों का पुत्र है।[2] इसे ऋत का उत्पन्न पुत्र कहा गया है।[3] उसकी उत्पत्ति जलों से कही गयी है।[4] पृथिवी अग्नि को धारण करती है। वह गाय है और अग्नि उसका बछड़ा।[5] अग्नि का प्रमुख कार्यक्षेत्र पृथिवी है। सूर्य रूप में यह आकाश और पृथिवी के बीच प्रज्ज्वलित होता रहता है।[6] अग्नि का आवास जल, समुद्र, बादल, मनुष्य, पत्थर, वृक्ष, औषधि, सोम, गाय, पक्षी है।[7] वह रुद्र का अस्त्र है।[8] अग्नि की उपाधि भिषग् भी है। जो गायों, अश्वों और मनुष्यों को औषधि देता है।[9] यातुधानों को मारने के लिए प्रचलित अग्नि में घृत डाला जाता है।[10] अग्नि में पिण्ड, दूध और तिल आदि की आहुति के यज्ञ में गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि का चयन किया जाता है।[11]

वृहस्पति : ये देवों के पुरोहित तथा ब्राह्मणों के प्रतिनिधि हैं।[12] यज्ञ से देवों को उद्‍बुद्ध कर लोक में आयु, प्रजा, पशु आदि से यजमान की वृद्धि करते हैं।[13]

पृथिवी : यह समस्त समृद्धि को प्रदान करने वाली तथा माता के रूप में वर्णित है।[14]

---

१. तार्ष्टाथीरग्ने समिधः ... अस्य मांसजिहीर्षति। (अथर्व.-५।२९।१५)
२. अग्नावग्निश्चरति ... अभिशास्ति पा उ। (वही-४।३९।९)
३. परि द्यावा पृथिवी ... नन्वेषो अग्निः। (वही-२।१।४)
४. अग्निर्भूम्यामोषधि ... गोष्वश्वेष्वग्नयः। (वही-१२।१।१९)
५. वैश्वानरं विभ्रती ... द्रविणेनो दधातु। (वही-१२।१।६, ४।२९।२)
६. यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः। (वही-१०।८।३९)
७. वही-१२।१।१९, ३।२१।१-२, १९।३।१
८. य यमा विश्वा ... नमो अस्त्वग्नये। (वही-७।८७।१)
९. त्वं भिषग्भेषज्यासि ... पुरुषं सनेम। (वही-५।२९।१)
१०. अन्तर्दावे जुहुतास्वेतद्य ... गृहणामुप तोतपासि। (वही-६।३२।१)
११. शं पश्चात् ... तपतु शमं। (वही-१८।४।९)
१२. यमवहनाद् वृहस्पतिर्मणि फालं। (वही-१०।६।६)
१३. वही-१९।६३।१
१४. वही-१२।१; डॉ. राजबली पाण्डेय नागरी प्रचारिणी सभा, ६३ (३।४) पृ. २३१-२४१

४. भावात्मक देव

कुछ नये वैदिक देवों की शृङ्खला में स्कम्भ, काल, काम और रोहित प्रमुख हैं।
स्कम्भ : अथर्ववेद में दसवें काण्ड के सातवें और आठवें सूक्त का विषय स्कम्भ वर्णन है। इसको जानने वाले ब्रह्मविद् कहे गये हैं।[1]

काल : यह समयसूचक देव है। दो सूक्तों में इसका विस्तार से वर्णन है।[2] इसको प्रजापति का पिता कहा गया है।[3]

काम : इसे प्रथम उत्पन्न एवं सृष्टि करने की इच्छा वाला कहा गया है।[4]

अदिति : अदिति वीरपुत्रों की माता है।[5] उसके पुत्रों की संख्या एक स्थान पर आठ बताई गई है।[6] यह व्रतचारियों की माता है तथा ऋत की पत्नी है। यह लोगों की रक्षा करती है।[7]

दिति : अदिति के साथ दिति और उसके पुत्रों का प्रसङ्ग वर्णित है।

सरस्वती : इसे वाणी से समीकृत किया गया है।[8] अथर्ववेद में तीन सरस्वतियों का उल्लेख लता है।[9] सायण ने भी सरस्वती के तीन रूपों की व्याख्या इडा, सरस्वती और भारती रूप में की है।[10]

[illegible] : अथर्ववेद में श्री शब्द भूति, तेज, सम्पत्ति, वृद्धि, सुन्दरता और ऐश्वर्य के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पृथिवी सूक्त में इनका वर्णन उपलब्ध है।[11]

त्वष्टा : त्वष्टा देव प्राणियों के शरीर की रचना करते हैं।[12]

प्रजापति : प्रजापति इस समय सम्पूर्ण प्राणियों का स्वामी कहा जाता है।[13]

---

१. यतः सूर्यं ... किञ्चन्। (अथर्व.-१०।८।१६, १०।७।१७, १०।७, ३१, १०।८।४३)
२. वही-१६।५३, ५४
३. वही-१६।५३।८
४. वही-१६।५२।४, ६।८।१-३
५. हुवे देवीमदिति ... शूरपुत्रा। (वही-११।१।११)
६. अष्टयो निरदिति ... रात्रिमभिहव्यमेति। (वही-८।६।२१)
७. महीमूषु मातरं ... हवामहे। (वही-७।६।२)
८. यं याचाम्यहं ... विन्दुतु। (वही-५।७।५, ५।१०।८)
९. तिस्त्रः सरस्वती रुदुः। (वही-६।१००।१)
१०. सरस्वत्यः ... भारती। (अथर्ववैदिक सिविलाइजेशन, करमवेलकर, पृ. १२२)
११. भूमे मातर्नि ... मा धेहि भूत्याम्। (वही-१२।१।६३)
१२. त्वष्टाः रुपाणां जनिता पशूनाम्। (वही- ६।४।६, २।२६।१)
१३. वही-४।२।७

वह प्राणियों की सृष्टि करता है और सभी लोगों को धारण करता है।[1]

व्रात्य : अथर्व साहित्य में पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्य का वर्णन है। इसकी तुलना प्रजापति से की गई है।[2]

५. अन्य देवगण - अथर्व साहित्य में कुछ ऐसे देवों का वर्णन मिलता है, जिनका स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं है, तथापि तत्कालीन कृत्यों और अभिचारों में इनका उपयोग स्वीकृत हुआ है।

गन्धर्व : दिव्य गन्धर्व संसार का अकेला स्वामी कहा गया है।[3] इनका गन्ध से सम्बन्ध बताया गया है।[4] इनकी संख्या छः हजार है।[5]

अप्सरायें : गन्धर्वों की पत्नियों के रूप में वर्णित अप्सराएँ द्यूत क्रीड़ा की प्रमुख निर्णायिका एवं संरक्षिका हैं।[6]

सर्प : सर्प-पूजा की परिकल्पना मात्र अथर्व साहित्य में ही की गई है।[7] एक स्थल पर विराट् शक्ति नामक गाय रूपी सर्प से तक्षक आदि सर्पों के द्वारा दुग्ध दोहन का साक्ष्य इस कथन की पुष्टि करता है।[8]

वृक्ष-पूजा : अथर्व परम्परा में वृक्ष-पूजन का पर्याप्त विवेचन है। वृक्षों के अन्तर्गत अश्वत्थ, शमी तथा वरणावनी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अश्वत्थ : पीपल की गणना इस देश के विशालतम वृक्षों के रूप में की गई है। तृतीय स्वर्ग में देवगणों का निवास पीपल के वृक्षों में बतलाया गया है।[9] शमी और अश्वत्थ वृक्षों का पुंसवन संस्कार में भी विशेष स्थान है।[10] इस देश की संस्कृति में आज भी पीपल के वृक्ष का पूजनीय स्थान है।

शमी : यह बड़े-बड़े पत्तों वाला वृक्ष है। यह वर्षाकाल में वृद्धि प्राप्त करता है। शमी से केशों

---

१. अथर्व. १०।७।८, १०।७।७
२. स प्रजापतिः ... प्राजनयत्। (वही-१५।१।२)
३. दिव्यो गन्धर्वो ... विक्ष्वो यः। (वही-२।२।१)
४. यस्ते गन्धः ... सुरभिं कृणु। (वही-१२।१।२३, ८।१०।२७)
५. गन्धर्वा ... षटसहस्राः सर्वान्। (वही-११।५।२)
६. या अक्षेषु ... तामिह हुवे। (वही-४।३८।४)
७. रिलीजन ऑफ इण्डिया, पृ. १५४; वैदिक माइथो. पृ. ७०, १४८, १५२, सै. बु. आफ द ईस्ट, भाग-४२
८. सोदक्रामत् ... तामविषमेवाधोक्। (वही-८।१०।२८)
९. अश्वत्थोदेवसदन ... देवाः कुष्ठमवन्वत। (वही-५।४।३)
१०. शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवन् कृतम्। (वही-६।११।१)

की रक्षा वैसे ही होती है, जैसे कि माता द्वारा पुत्र की।[१]

वरणावती : स्वरण वृक्ष देवों की वनस्पति है। इस पर यक्ष्म रोग का निवास कहा गया है।[२]

पर्णमणि : स्वास्थ्य रक्षा एवं उद्देश्यों की सिद्धि के लिए वृक्षों के पत्तों की मन्त्रसिद्ध मणियाँ पहनी जाती हैं। उदुम्बर मणि पशु, धन, जन प्राप्ति के लिए धारण की जाती हैं।[३]

नदी : यत्र-तत्र नदी की पूजा का चित्रण भी प्राप्त होता है। सरस्वती नदी को पितरों की नदी के रूप में स्वीकार करके उसके तट पर स्वधा (पिण्ड) प्रदान किया जाता है।[४]

गृह : गृह को शाला के नाम से अभिहित किया गया है। नये घर के कृत्य में उसका पूजन कर अग्नि में हवन किया जाता है।[५]

कृषि के देवता

एक मन्त्र में क्षेत्रस्य-पति का उल्लेख है।[६] मैकडानल का मत है कि यह खेतों का देवता है। क्षेत्रस्य पति उसी प्रकार का देवता है जैसे गृह का वास्तोपति।[७] सायण ने सीर को हल का अभिमानी देव कहा है।[८] यास्क ने शुना को वायुदेव से तथा सीर को आदित्य से सम्बोधित किया है।[९]

पशु-पूजा

पशुओं की उत्पत्ति यज्ञ-पुरुष के द्वारा हुई है, ऐसा मान्य है।[१०] वशा गाय को देवों की गाय कहा गया है। उसे कष्ट देना महान् अनर्थ कार्य समझा जाता है।[११]

अतिथि-पूजा

आथर्वणिक धर्म का एक नवीन तत्त्व मानव-पूजा है। अतिथि-सत्कार को यज्ञ के रूप में स्वीकार किया गया है। अतिथि विषयक एक सूक्त भी है।[१२] जो व्यक्ति अतिथि की सेवा नहीं करता, वह देव या पितृलोक नहीं जा सकता।[१३]

---

१. वृहत्पलाशे ... केशेभ्यः शमी। (अथर्व-६।३०।३)
२. वही -६।८५।१
३. वही-१६।३१।१
४. या सरथं ... पितृभिर्भदन्ती। (वही-१८।१।४३)
५. प्राच्यादिशः शालाया नमो। (अथर्व.-६।३।२६-३१)
६. नमः क्षेत्रस्य पतये। (वही-२।५।८)
७. वैदिक माइथोलॉजी, मैकडानल, पृ. १३८
८. सीरो लाङ्लभिमानी देवः। (वही-३।१७।५)
९. निरुक्त-६।४० शुनो वायुः सीर आदित्य।
१०. पशूंस्ताश्चक्रे ... ग्राम्याश्च ये। (वही-१६।६।१४)
११. वही-१०।१०, १२।४
१२. ६।६
१३. न पितृयाण पन्थां न देवयानम्। (अथर्व.-१५।२२।६)

असुर और राक्षस

आथर्वणिक विचारधारा के अनुयायी देवों की अपेक्षा भूत, पिशाच एवं राक्षस आदि दानवी शक्तियों में अटूट विश्वास करते हैं। इन राक्षसों का केवल एक ही लोक है।[1] वज्र औषधि के माध्यम से इन्हें नष्ट किया जाता है।[2]

गृहकर्माणि (संस्कार)

१. गर्भाधान : भाष्यकार सायण ने इनका नाम चतुर्थी कर्माणि किया है।[3] इस संस्कार का विवरण विवाह काण्ड में प्राप्त होता है।[4] एक सूक्त[5] का प्रयोग कौशिक ने यद्यपि पुंसवन संस्कार के लिए किया है, तथापि उसमें गर्भाधान विषयक सामग्री प्राप्त होती है।[6]

२. पुंसवन : इसे प्रजापत्य संस्कार के नाम से सम्बोधित किया जाता है।[7] यह संस्कार पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। यह एक मन्त्र से स्पष्ट है कि इस उत्सव को शमी या अश्वत्थ वृक्षों के नीचे मनाया जाता है।[8] यह कृत्य पुत्र-प्राप्ति का द्योतक है। पुंसवन संस्कार में कुछ अभिचार भी सम्पन्न होते हैं।[9]

३. सीमन्तोन्नयन : यह संस्कार राक्षसों, दानवों आदि से गर्भ की रक्षा के लिए सम्पन्न किया जाता है।[10] इस हेतु अथर्वसाहित्य में २६ मन्त्रों से युक्त एक सूक्त प्राप्त होता है।[11] इस सूक्त से परवर्ती संस्कार सीमन्तोन्नयन पर प्रकाश पड़ता है।

४. जातकर्म : अथर्ववेद में प्राप्त सूक्त में सहज व सुरक्षित प्रसव के लिए प्रार्थना की गई है।[12] इस कथन से जातकर्म संस्कार का स्वरूप परिलक्षित होता है। ब्रह्मपुराण में पुत्र जन्म

---

१. अथर्व.,८।१०।२२
२. कृणोभ्यस्यै भैषजं वज्रं द्रणभिचातनम्। (वही-८।६।३)
३. १४वें काण्ड की भूमिका
४. १४वाँ काण्ड
५. वही-५।२५
६. कौशिकसू; ३५।५, अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. २६५
७. कृणोमि ते प्रजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते। (वही-३।३३।५)
८. शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। (वही-६।११।१)
९. येन वेहद् ... दूरे नि दध्यसि। (वही-३।२३।१)
१०. हिन्दू संस्कार, डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. ७८
११. अथर्व ... ८।६; कौशिक सू. ८।२४, २।२, ६।११
१२. वही-१।११, कौशिक सू. - ३३।१

के अवसर पर किये गये इस कार्य को नान्दी श्राद्ध की संज्ञा दी गई है।[१]

५. अशुभ मुहूर्त में उत्पन्न शिशु की शान्ति के उपचार : अशुभ समय में उत्पन्न बालक के उपचार की विधि का चित्राङ्कन भी एक सूक्त में प्राप्त है।[२] मन्त्र में कथन है कि ज्येष्ठहनी[३] नक्षत्र में उत्पन्न हुआ पुत्र अपने से बड़ों का नाश करने वाला न हो। यम के मूल बर्हण से इसकी रक्षा करो और दोषमुक्त करो, जिससे यह सौ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करे।[४] इससे स्पष्ट होता है कि ज्येष्ठा तथा मूल नक्षत्रों के अशुभ होने की परिकल्पना ज्योतिषशास्त्र से भी पूर्व अथर्व-साहित्य में की गई है।

६. नामकरण : कौशिक[५] ने अथर्ववेद के एक सूक्त[६] के कतिपय मन्त्रों के नामकरण के लिए प्रयुक्त किया है। अन्य मन्त्र में कौशिक को कोपीन के समान कोई वस्त्र पहनाने का सन्दर्भ है।[७] इसमें उद्धृत मन्त्र[८] को सायण[९] निष्क्रमण काल के लिये उपयुक्त मानते हैं तथा कौशिक[१०] इसे निर्णयन के लिए प्रयुक्त करते हैं।

७. अन्नप्राशन : अथर्ववेद के सूत्रकार कौशिक[११] पर भाष्य करते हुए केशव[१२] ने अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों को अन्न प्राशन के लिए उद्धृत किया है। एक अन्य सूक्त[१३] से अन्नप्राशन जैसे संस्कार के विषय में सामग्री प्राप्त होती है, जिसे कौशिक ने बालक के प्रथम दन्त दर्शन कृत्य के लिये प्रयुक्त किया है। इस सूक्त से बच्चे द्वारा प्रथम दन्त दर्शन के अवसर पर अन्न प्राशन का भी आभास मिलता है।[१४]

---

१. नान्दी श्राद्धावसोन ... समाचरेत्। (हिन्दू संस्कार, पृ. ६४)
२. अथर्व.- ६।११०
३. ज्येष्ठघ्न्यां ... शत शारदाय। (वही-६।११०।२)
४. (वही-१६।७।३)
५. कौशिकस्.-५८।१३-१८
६. ८।२, रैलिजन एण्ड फिलॉसॉफी ऑफ दि अथर्व, पृ. १०२
७. यत्ते वासः ... द्रक्ष्णमस्तु ते। (अथर्व.-८।२।१६)
८. अथर्व.-८।२।१४
९. वही-८।२।१४
१०. कुमारं प्रथमं निणयति। (कौ. सू. ५८।१८)
११. कौशिक सू.-५८।१७
१२. रैलिजन एण्ड फिलॉ. ऑफ द अथर्व., पृ. १०३
१३. अथर्व.- ६।१४०
१४. ब्रीहिमन्तं ... पितरं मातरं च। (वही-६।१४०।२)

८. शिशु का वस्त्र, परिधान एवं संरक्षण : एक मन्त्र में शिशु की रक्षा हेतु अग्नि से प्रार्थना की गई है।[1] अगले मन्त्र से ज्ञात होता है कि इस समय बच्चे को नवीन वस्त्र पहनाया जाता है। 'यह वस्त्र तुम्हारी रक्षा करे।'[2] ऐसा वर्णन है।

९. चूड़ाकरण और गोदान : एक सूक्त में कौशिक ने गोदान, चूड़ाकरण और उपनयन तीनों काल हेतु प्रयुक्त किया गया है।[3] एक मन्त्र में सविता से क्षुर लाने की प्रार्थना की गई है और वायु से गर्म जल। सम्भवतः बाल कटवाने के पूर्व संस्कार के अनुसार ब्राह्मण पुरोहित कुछ बालों को काटता है।[4] ये वर्णन बालक के चूड़ाकरण की ओर सङ्केत करते हैं।[5]

१०. उपनयन : इसका प्रयोग आचार्य द्वारा छात्र को ग्रहण करने के अर्थ में हुआ है। उपनयन शब्द सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही एक स्थान पर मिलता है।[6] कौशिक ने इस मन्त्र को उपनयन के लिए प्रयुक्त किया है।[7] इस संस्कार में कई विधियों का वर्णन मिलता है।

क्षौर कर्म : उपनयन संस्कार में उष्ण जल से सिर को भिगोकर शिष्य के बाल काट दिये जाते हैं।[8]

वस्त्र परिधान : शिष्य को पहनने के लिए नवीन वस्त्र कोपीन और चादर दिये जाते हैं।[9]

मेखला : एक सूक्त में ब्रह्मचारी द्वारा मेखला धारण करने का उल्लेख है।[10] उपनयन संस्कार में इसका अधिक महत्त्व है।[11]

अश्मारोहण : यह स्मृतिकालीन उपनयन संस्कार की एक विधि है। अथर्ववेद का एक मन्त्र इसी विधि से सम्बन्धित प्रतीत होता है।[12]

---

१. आयुर्दा अग्ने ... रक्षादि मम्। (अथर्व., २।१३।१)
२. परीदे वासौ अधिथाः स्वस्तये। (वही-२।१३।३)
३. कौशिक सूत्र-५३।१७-२०, ५५।२, ५४।१५-१६
४. अयमगन्त्यसविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि। (अथर्व.-६।६८।१)
५. हिन्दू-संस्कार, पृ. १२१
६. आचार्य उपनयमानो ... गर्भमन्त्रः। (अथर्व.-११।५।३)
७. हिन्दू संस्कार, पृ. १३५
८. यत्ते क्षुरेणु ... आयुः प्र मोषो। (अथर्व. ८।२।१७)
९. यत्ते वास परिधानं ... द्रक्ष्णमस्तु ते। (वही-८।२।१६)
१०. ६।१३३, कौशिकसू. ५६।१, ५७।१
११. हिन्दू संस्कार, पृ. १६८, १६९
१२. वही-पृ. १७६

दीक्षा : उपनयन में मुण्डित सिर वाले छात्र को दीक्षा दी जाती है।[१] ब्रह्मचारी का विशेषण दीक्षित भी है।[२] कृष्णमृगचर्म धारण करने, समिधा एकत्र करने और दाढ़ी-मूंछ रखने की दीक्षा दी जाती है।[३]

तिरात्रवृत : उपनयन की विधि की समाप्ति पर आचार्य छात्र को दाहिने हाथ से पकड़ता है और छात्र को आचार्य के यहाँ तीन दिन कठोर व्रत करना पड़ता है। उसके पश्चात् उसका जन्म होता है।[४]

मेधाजनन : अन्त में मेधाजनन की विधि सम्पन्न होती है। मेधा से सम्बन्धित एक सम्पूर्ण सूक्त उपलब्ध है।[५] बालकों की भाँति कन्याओं का भी उपनयन होता है।[६] इसका प्रमाण परवर्ती ग्रन्थों में भी है, जहाँ पूर्वकाल में कन्याओं के मोञ्जी बन्धन का उल्लेख है।[७]

११. समावर्तन संस्कार : इसके प्रसङ्ग में डॉ. राजबली पाण्डेय का कथन है कि संस्कृत साहित्य में अध्ययन की तुलना एक सागर के साथ की गई है और जो व्यक्ति विद्याओं का अध्ययन कर प्रकाण्ड पण्डित हो जाता है, उसे यह समझा जाता है कि उसने सागर को पार कर लिया है।[८] ऐसा प्रसङ्ग अथर्ववेद में ब्रह्मचारी सूक्त[९] के अन्तिम मन्त्र में आया है। इस संस्कार का दूसरा नाम स्नान संस्कार भी है। जो स्नान का कर्त्ता होता है उसे स्नातक कहते हैं।

१२. विवाह-संस्कार : विवाह सूक्त[१०] से ज्ञात होता है कि विवाह वर के घर पर ही सम्पन्न होता है। अन्य स्थान पर वर्णित है कि विवाह वधू के गृह में सम्पन्न होता है।[११]

---

१. दीक्षान्तं बटुर्मुमुण्डितमस्तकः इति दुर्गादासः। (शब्द कल्पद्रुम, भाग २, पृ. ७१४)
२. शब्दकल्पद्रुम-भाग-२, पृ. ७१४
३. ब्रह्मचार्येति ... दक्षितो दीर्घश्मश्रुः। (अथर्व.,११।५।६)
४. वही, ११।५।३; हिन्दु संस्कार, पृ. १७६
५. कौशिक सू.,५७।२८
६. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्व.,११।५।१८)
७. पुराकल्पे तु नारीणां ... वचनं तथा। (एजूकेशन इन ऐ. इ., पृ. २०६)
८. वही, पृ. १८७
९. अथर्व. - ११।२, ३
१०. सूर्याया वहतुः ... वहतुं सूर्यायाः। (वही-१४।१।१३-१४)
११. हिन्दू संस्कार, पृ. २५९

(अ) वधू का स्नान : इस अवसर पर सात नदियों के जल को सैकड़ों प्रकार से पवित्र करके युवा पर बैठकर कन्या को नहलाया जाता है।[१] वेबर का मत है कि स्तम्भ वधू के दृढ़ व्रत का प्रतीक है। संस्कार के आधुनिक उपकरणों उदक, युवा एवं स्तम्भ का उस काल विशेष में भी प्रयोग होता था।[२]

(आ) नवीन वस्त्र परिधान : विवाह सम्वन्धी नव्य वस्त्र को वाधूय कहा जाता है। उनका यह विश्वास है कि यह वाधूय वस्त्र देवों द्वारा मनु को दिया गया है।[३]

(इ) आशीर्वाचन : विवाह में पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद प्रदान करता है।[४]

(ई) दीक्षा : यह संस्कारकर्त्ता के संरक्षण हेतु दी जाती है।[५] गौतमीय तन्त्र में इस दीक्षा को गुरु प्रदान करता हुआ प्रदर्शित होता है।[६]

(उ) पाणिग्रहण : अथर्व वैदिककाल में भी आज की भाँति पाणिग्रहण विधि का प्रयोग होता था।[७] पाणिग्रहण का महत्त्व जानते हुए वर अपने को वैधानिक पति घोषित करता है।[८]

(ऊ) अश्मारोहण : संहिता में पहले अश्मारोहण का मन्त्र आया है, ततः पाणिग्रहण का। परन्तु पाणिग्रहण के पश्चात् अश्मारोहण की विधि सम्पन्न होती है।[९]

(ऋ) वर के घर हेतु प्रस्थान : विवाह संस्कार सम्पन्न होने पर वधू पितृगृह को छोड़कर पति के घर जाती हुई प्रदर्शित की गयी है। ये कन्यायें पिता के घर से पति के पास जाने को तैयार हैं।[१०]

(ल) वधू का पतिगृह में प्रवेश : वधू के द्वारा पति के घर पहुँचने पर स्वागत करने का वर्णन प्राप्त होता है।[११] वृद्ध नारियों के द्वारा वधू के लिए माङ्गलिक भावनाओं को व्यक्त

---

१. आपः सप्त ... मुञ्जन्त्वहंसः। (अथर्व. - १४।२।४३)
२. वेबर, अथर्ववेद का अनुवाद, पृ. १६७ टिप्पणी
३. देवैर्दन्तं मनुना ... वस्त्रम्। (अथर्व. - १४।२।४१)
४. इहैव स्तं मा ... स्वस्तको। (वही-१४।१।२२)
५. दीक्षया गुप्ता (वही-१२।५।३)
६. गुरुमुखात् स्वेष्टेदेवमन्त्रग्रहणम्। (गौतमीयतंत्र-७।२,; शब्दकल्पद्रुम भाग २, पृ. ७१४
७. येनाग्निरस्या ... धनेन हि। (अथर्व. १४।१।४८; कौ. सू. ७६।१६)
८. पत्नी त्वमसि धर्मपाहं गृहपतिस्तव। (वही-१४।१।५१)
९. कौशिक, ७६।१०, अथर्व- १४।१।५१, १४।१।४७)
१०. सं त्वा नहयामि ... प्रजया धनेन। (अथर्व. १४।२।७०)
११. सुमङ्गली प्रतरणी वधूरिमां ... प्र गृहान् विशेमान्। (वही-१४।२।२६)

करने का साक्ष्य प्राप्त होता है।[१]

(ए) गार्हपत्य अग्नि की पूजा : वधू गार्हपत्याग्नि की पूजा करके पितरों और सरस्वती नदी की पूजा करती है।[२]

(ऐ) शय्यारोहण : दम्पत्ति के द्वारा शय्यारोहण के कार्य को चतुर्थिका नामक कर्म की संज्ञा दी गई है।[३]

(ओ) पितरों की बिदाई के लिए जाने का वर्णन : इस संस्कार के अन्त में पितरों के बिदाई के लिए जाने का वर्णन मिलता है और उक्त समारोह विधिवत् सम्पन्न कर दिया जाता है।[४]

१३ अन्त्येष्टि संस्कार : अथर्व सिद्धान्तों में अन्त्येष्टि संस्कार पर पूरा काण्ड प्रस्तुत किया गया है।[५] मृतक के दाह के पश्चात् रुदन करती हुई स्त्रियों का चित्रण है।[६]

(१) पत्नी का चिता पर लेटना : मृतक की पत्नी द्वारा धर्म पालन करते हुए उसके समीप चिता पर लेटने का प्रमाण प्राप्त है।[७]

(२) मृतक के लिए पाथेय : मृतक को स्नान कराकर वस्त्रों के धारण कराये जाने का वर्णन मिलता है।[८] पहनाये गये वस्त्रों को पुनः उतारने का भी उल्लेख प्राप्त है।[९]

(३) चिता पर अग्नियों का आह्वान : चिता जलाने के लिए अग्नि का आह्वान करते हुए कहा जाता है कि हे अग्नि! इस मृतक को आगे-पीछे, सब ओर सम्यक् रूप में जलाकर अच्छे लोक में ले जाओ।[१०] वायु को प्राण का स्वरूप माना गया है। अतः जीवात्मा को वायु के साथ सम्बन्धित किया जाता है।[११] इस प्रकार दाहक्रिया सर्वश्रेष्ठ समझी गई है, जिसमें मृतक भस्म होकर पञ्च तत्त्वों में विलीन हो जाता है।

---

१. सुमङ्गलीरियं ... दत्त्वा दौर्भाग्येर्विपरेतन। (अथर्व.,१४।२।२८)
२. यदा गार्हपत्य ... पितृभ्यश्च नमस्कुरु। (वही.-१४।२।२०)
३. अथर्ववेद संहिता, भाग ३, पृ. २६२
४. येदं पूर्वागन्रशनायमाना ... सुप्रजा अत्यजैषीत। (अथर्व.,१४।२।७४)
५. अपेम जीवा ... परिग्रामादितः। (वही,१८।२।२७)
६. क्षिप्र वै तस्या ... पाममैलबम्। (वही,१२।५।४८)
७. इमं नारी ... मर्त्य प्रेतम। (वही,१८।३।१)
८. एतत्वा वासः प्रथमं न्यागन्। (वही,१८।२।५७)
९. दण्डं हस्तादाददानो १८।२।५६, धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य १८।२।७
१०. शमग्ने पश्चातम ... सुकृतामु लोके। (वही-१८।४।११)
११. वायु प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। (ए. आ. २।४२)

शव विसर्जन की अन्य विधियाँ : शव विसर्जन की प्रथम प्रक्रिया दाह-संस्कार है, जिस पर प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त तीन विधियों का भी सङ्केत है। प्रथमा के अनुसार मृतक को समाधिस्थ किया जाता है। तृतीय विधि के अनुसार मृतक का परित्याग कर दिया जाता है एवं चतुर्थ विधि में मृतक के शव को वृक्ष एवं पौधों में छिपाकर रख दिया जाता है। मृतक के शव की हड्डियों का पशु-पक्षियों द्वारा भक्षण कर लिया जाता है।[१]

शव निखात : किसी भी व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् उसे घर से निकाल दिया जाता है।[२] एक मन्त्र में शव को गाड़ी पर रखने का उल्लेख मिलता है।[३] एक स्थान पर उल्लेख है कि समाधि की लम्बाई चार पग, चौड़ाई तीन पग और गहराई नाभि पर्यन्त होती है।[४] अन्त्येष्टि सूक्त के "इमां मात्रां" से परिमाण की सूचना मिलती है।[५] सायण ने "इमां मा मात्रां" का अर्थ "एतावती श्मशान देशस्य परिमाणम्" किया है।[६] कौशिक ने भी चार मन्त्रों का प्रयोग समाधि परिमाण के लिए किया है।[७] शतपथ ब्राह्मण में समाधि को मृतक के परिमाण में बनाने का उल्लेख है–पुरुषमात्रमेव। समाधि को पाटकर प्रतीक के रूप में स्तम्भ लगा दिया जाता है।[८]

अस्थि निखात : प्रारम्भिक अवस्था में मृतकों के शरीर को खुले मैदान में छोड़ दिया जाता है या पेड़ों के खोखले में रख दिया जाता है। उसके मांस को कौए, चीटियां, सर्प या कुत्ते आदि भक्षण करते हैं।

अस्थि-कलश को समाधिस्थ करना : अथर्ववेद के एक मन्त्र से अस्थि कलश को समाधिस्थ करने की विधि पर प्रकाश पड़ता है।[१०] कौशिक शवदाह के पश्चात् अस्थि सञ्चयन

---

१. ये निखाता ये परोप्ता ... पितृन हविषे अत्तवे। (अथर्व.- १८।२।३४)
२. अप्रेमं जीवा ... परिग्रामादितः। (वही-१८।२।२६)
३. इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय बौढवे। (वही-१८।२।५६)
४. वही- १८।२।४० "त्रीणि पदानि ... सं पुनाति।
५. वही-१८।२।३८-४५
६. १८।२।२८
७. कौशिक सूत्र-८५।३।१५
८. उत्ते स्तम्भानि ... यमः सादना ते कृणोतु। (अथर्व. - १८।३।५२)
६. यत्ते कृष्णः ... उत वा श्वापदः। (वही-१८।३।५५)
१०. यदवो अग्निरजतादेकमङ्ग ... मादयध्वम्। (वही-१८।६४)

का वर्णन करते हैं।[1] इस क्रिया को पिण्डपितृ यज्ञ कहा है।[2] अथर्व में इसे प्राजापत्य मेध्य कृत्य[3] कहा गया है। सायण ने पितृमेधाख्य[4] के रूप में स्वीकारा है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि अथर्व सिद्धान्तों में अन्त्येष्टि के लिए विभिन्न प्रकार की विधियाँ प्रतिपादित की गई हैं।

मरणोत्तर जीवन

पितरों के लोकोत्तर जीवन यापन के लिए स्वधा देने की व्यवस्था की गई है, जैसा कि क्षत्रिय जन अपने पितरों के लिए स्वधा अर्पित करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं।[5] वर्तमानकाल में गया में नदी के तट पर पितरों को पिण्डदान दिया जाता है, किन्तु अथर्व-साहित्य परम्परा के अनुयायी इसी कार्य को सरस्वती नदी के तट पर सम्पन्न करते रहे हैं। इस नदी को देवों का मुख कहा गया है। इसमें प्रदत्त हव्य पितरों को प्राप्त होता है।[6] स्वधा से पितरगण प्रसन्न होते हैं।[7]

पितृलोक : पितरों के लोक को पितृलोक कहा गया है।[8] इसका अधिष्ठाता यम माना गया है।[9] यह स्वर्ग, आकाश और अन्तरिक्ष में है।[10] मैक्समूलर ने पिता, पितामह और प्रपितामह के लिए पृथक्-पृथक् तीन लोकों का निर्देश किया है।[11] यह मत विशेष उपयुक्त प्रतीत नहीं होता क्योंकि अथर्व साहित्य के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से पिता, पितामह और प्रपितामह सभी अन्तरिक्ष वासी कहे गए हैं।[12] पितरों के मार्ग का काम पितृयान है। पितरों को देवता ही कहा गया है।[13] देवता और पितर दोनों

---

१. कौशिकसूत्र, ८२।२६
२. वही-८२
३. तमग्नयः ... मेध्यं जातवेदसः (अथर्व., १८।४।१३)
४. सायणभाष्य, ८।४।२
५. स्वधाकारेणपितृभ्यो ... न गच्छेति। (अथर्व., १२।४।३२)
६. इदं ते हव्यं ... हविरास्यंयत्। (वही-७।६८।२; सरस्वती पितरो हवन्ते-वही १८।१।४२)
७. मध्ये दिवः स्वधया मोदयन्ते। (वही-१८।२।३५)
८. पितृलोकं गमयं ... मादयध्वम्। (वही-१८।४।६४)
९. ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु। (वही-१८।२।५२)
१०. ये नः पितुः ... अन्तरिक्षम्। (वही-१८।२।४४)
११. इण्डिया व्हाट केन टीच अस, पृ. २२३
१२. अथर्व. - १८।२।४४
१३. देवाः पितरः पितरो देवाः। (अथर्व. - १।१२३।३)

प्रकाशमान माने गये हैं।[1]

स्वर्ग लोक : यह लोक श्रेष्ठ जनों का निवास स्थान है।[2] इसे उच्चतम प्रकाशमान लोक[3], अन्तरिक्ष का पृष्ठ[4], तृतीय अन्तरिक्ष[5] तथा तृतीय आकाश[6] कहा गया है।

नरकलोक : अथर्ववेद यम के लोक[7] के विपरीत नरकलोक[8] की चर्चा राक्षसियों और अभिचारकों के आवास एवं अधोग्रह के रूप में करता है। इसमें नारकीय यातनाओं का भी वर्णन किया गया है।[9]

पितरों का महत्त्व : पितरों को समाज में आदर की दृष्टि से देखा गया है। सायण के मत में मनुष्य पुत्र-पौत्रादि की-उत्पत्ति हेतु पितरों का ऋणी होता है।[10] इनकी दिशा दक्षिण दिशा मानी जाती है। धर्मसूत्रों, गृहसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत जो कुछ भी सांस्कृतिक सामग्री उपलब्ध है, उसका मूलस्रोत इस परम्परा में प्रतिपादित हुआ है।

उपर्युक्त प्रकरण में उपनिबद्ध तथ्य भारतीय संस्कृति के लिए निःसन्देह उपादेय हुए हैं। जो वर्तमान सांस्कृतिक प्रक्रिया प्रचलन में है, वह पूर्णरूपेण अथर्व-परम्परा पर अवलम्बित है।

---

१. अथर्व. - १८।२।५७
२. सुकृतस्य लोकम्।
३. वही-११।४।११, ४।३४।२
४. वही-१८।२।४७
५. वही-६।५।१,८
६. वही-१८।२।४८
७. वही- १२।४।२६
८. रोथ ज. ऑफ अमरीकन ओ. सी. ३, ३४५
९. अथर्व. - ५।१९
१०. वही.- ६।१२३।२

षष्ठ अध्याय

आर्थिक-जीवन की परिकल्पना

इसके अन्तर्गत अर्थ को भी उतना ही अधिक महत्त्व दिया गया है जितना कि राजनीति, समाज एवं धर्म को। प्रस्तुत अध्याय में "अर्थ" से सम्बन्धित उन आर्थिक मूल्यों को उद्‌घाटित किया जायेगा जिनका कि न केवल तत्कालीन जीवन के साथ अपितु वर्तमान जीवन के साथ भी सम्बन्ध है।

१. आखेट

मृग, सिंह, व्याध्र, शृङ्गाल, भेड़िया और ऋक्ष आदि का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इससे आंशिक रूप से आखेट के प्रतिपादित होने की कल्पना की जा सकती है। अन्य मन्त्र में हिरण के अञ्जिन का भी उल्लेख मिलता है।[2]

२. कृषि

पुरोहित कहलाने वाला व्यक्ति शासक होने के साथ ही एक अनुभवी कृषक के रूप में भी चित्रित है। कृषि में उत्पन्न अन्न के द्वारा ही उसके जीवन-निर्वाह का विवरण मिलता है।[3] कृषि कार्य का शुभारम्भ पृथी वैन्य ने किया।[4] वेनपुत्र पृथी या पृथु का वर्णन पुराणों में विस्तार के साथ मिलता है। ये ही प्रथम राजा हैं, जिन्होंने कृषि कर्म के अयोग्य पथरीली भूमि को समतल कर कृषि के उपयुक्त बनाया जिसके कारण भूमि का ही नाम उसके नाम पर पृथिवी रखा गया है।[5]

(क) कृषि के लिए भूमि : कृषि के लिए भूमि ही सर्वोत्तम उपयुक्त आधार है।[6] कृषि के लिए मुख्य रूप से उपयोगी मिट्टी को विविध रङ्ग तथा विशेष रूप से भूरी एवं काली मिट्टी को विशेष उपयुक्त माना गया है।[7] इसके क्षेत्र ऊँचे और समतल रूप में भी दृष्टिगत होते हैं।[8] कृषि के लिए अप्नस्वती और उर्वरा भूमि उपयोगी है। उपजाऊ भूमि अप्नस्वती कहलाती है।[9] बीज को शीघ्रता से बढ़ाने वाली भूमि को उर्वरा कहा गया है।[10]

---

१. ये त अरण्याः ... बाधयास्मत्। (अथर्व., १२।१।४६)
२. हरिणस्याजिनेन च। (वही,५।२१।७)
३. ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति। (वही-८।१०।२४)
४. सोदक्रामत्सा ... अन्नं वै विराट्। (तै. ब्रा. - ३, ८, १०, ४, ८, १०, २४)
५. श्रीमद्‌भागवत - ४।१६-२३
६. यस्मान्नं कृष्टयः संबभूवुः। (अथर्व. - १२।१।३-४)
७. बंभु कृष्णा ... पृथिवीमिन्द्र गुप्ताम्। (वही,१२।१।११)
८. यस्या उद्धतः प्रवतः समं बहु। (वही-१२।१।२)
६. 'अप्नस्वती ममधीरस्तु। (वही-२०।८६।;, अप्नस्वतीपूर्वण-ऋ, १।१२७।६)
१०. यथा बीजमुर्वरायां ... रोहति। (अथर्व., १०।६।३३)

(ख) कृषि के उपकरण : कृषि के उपकरणों के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् रूप से वर्णन मिलता है।

कीनाश : खेती करने वालों को कीनाश या सीरपति कहा गया है।[1]

सीर : यह हल शब्द का वाचक है। कृषकों के लिए छः और आठ हलों की खेती करने का विवरण प्राप्त होता है।[2] यास्क शुना को वायु और सीर को आदित्य से समीकृत करते हैं।[3]

फाल : हल के अग्रिम भाग को "फाल" कहा जाता है। प्रो. ब्लूमफील्ड[4] का कथन है कि यह पवीर धातु का बना होता था। व्हिटने हल को ही नुकीला मानते हैं।[5] अतः हल के अग्र भाग का नाम फाल था।[6] खदिर को शतपथ ब्राह्मण में कठोर कहा गया है।[7]

अष्ट्रा : यह बैलों को हाँकने के प्रयोग में आता है।[8] अथर्ववेद में इसका उल्लेख, एक बार उल्लेख है। कौशिक ने पितृमेध यज्ञ-प्रसङ्ग में वैश्यों के हाथ में अष्ट्रा ग्रहण करने का विधान किया है।[9]

(ग) कृषि कार्य का आरम्भ : कृषि कार्य अत्यन्त धूमधाम से आरम्भ होता था। इस अवसर पर हुआ में घृत और मधु छोड़कर देवों की पूजा की जाती थी। उनका विश्वास था कि इससे वे दूध-घी से सम्पन्न होंगे।[10]

(घ) कृषि के लिए उपयुक्त ऋतुएँ : ऋतुओं के सम्बन्ध में ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त इन छः ऋतुओं का वर्णन है।[11]

(ङ) खाद की व्यवस्था : इस काल में पशुओं की अधिकता होने से खाद की कमी नहीं थी। यहाँ गाय का विशेषण करीषिणी (गोबर उत्पन्न करने वाली) है।[12] स्थान विशेष पर खाद द्वारा मनुष्यों का पोषण करने वाली गायों का उल्लेख है।[13]

---

१. इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्। (अथर्व.- ६।३०।१)
२. षड् योगं सीरमनु। (वही-८।६।१६)
३. शुनो वायुः सीर आदित्यः। (निरुक्त - ६।४०)
४. सै. बु. ऑफ द ई., भाग ४२, पृ. ६०६; लाङ्गलं पवीरवत्। (३।७।३)
५. अथर्ववेद संहिता का अनुवाद, पृ. ११५
६. कौशिक सू. ३५।४; सै. बु. आफ ई. भाग ४२, पृ. ६०६
७. अस्थिभ्य एवास्य ... दारुणामिव ह्यस्थित। (शत. ब्रा.,१३।४।४।६)
८. शूनमष्ट्रामुदिङ्गय। (अथर्व.-३।१७।६)
९. अष्ट्रामिति वैश्यस्य। (कौशिक सू.,८०।४६-५०)
१०. घृतेन सीता मधुना ... धृतवत्पिन्वमानां (अथर्व.-३।१६।६)
११. ग्रीष्मस्ते भूमे ... पृथिवी नो दुहाताम्। (वही-१२।१।३६)
१२. आस्मिन गोष्ठे करीषिणीः। (वही-६।१४।३)
१३. इहवै गाव एतनेहो शङ्कव पुष्यत। (वै. इण्डे. भाग-१, पृ. १११)

(च) सिंचाई की व्यवस्था : कृषि सामान्यतया वर्षा पर आधारित थी। इससे खेत सुशोभित हाता था तथा विभिन्न प्रकार के अन्न उत्पन्न होते थे।[१] वर्षा लोगों का प्राण है और स्वर्ग का अमृत।[२] उस काल में कुएँ भी थे।[३] एक स्थल पर घड़े में लाये हुए जल का उल्लेख है।[४] अथर्ववेद में तीन स्थानों पर खनितमा शब्द आया है।[५] व्हिटने इसे खोदकर लाया हुआ जल कहते हैं।[६] वैदिक इण्डेक्स में इसे सिंचाई के लिए व्यवहार में लायी जाने वाली कृत्रिम पानी की नहरों का द्योतक माना गया है।[७]

(छ) कृषि की संरक्षा : असमय में वर्षा होने से फसल नष्ट हो जाती थी। अतः विद्युत से प्रार्थना की गई है कि वह अन्न को नष्ट न करे। सूर्य अपनी प्रखर किरणों से कृषि को न सुखावे।[८] सम्पूर्ण सूक्त में कीटों के विरुद्ध उपचार करने की चर्चा है।[९]

(ज) कृषि की कटाई : पक्कर तैयार हुई कृषि के लिए विराट् से प्रार्थना करते थे कि जौ के गुच्छे में अधिक दाने लगें तथा वह पक कर शीघ्र ही हँसिया से काटने योग्य हो जायें।[१०] अन्न की वृद्धि सम्बन्धी प्रार्थना को सस्य सञ्चय गीत कहा गया है।[११] अन्य वर्णन है कि सूप से भूसे को पृथक करें।[१२] बाँटने वाले क्षत्तार कहे गये हैं।[१३]

(झ) कृषि के अन्न : इस काल में जौ, धान, माष और तिल की खती होती थी।[१४] अथर्वन् काल में भी लोगों की जीविका का प्रमुख साधन कृषि था।

३. पशुपालन

कृषि कर्म के अतिरिक्त अथर्ववैदिक आर्यों का प्रमुख उद्योग पशुपालन था। अथर्ववेद में अधोलिखित पशुओं के उल्लेख से उस काल में पशुपालन के महत्व पर प्रकाश पड़ता है।

गाय : दूध उनके भोजन का प्रमुख अङ्ग था। प्रथम बार दुही जाने वाली तथा अमृत तुल्य

---

१. वर्षस्य समां ... ओषधयो विश्वरूपाः। (अथर्व.-४।१५।२)
२. स नो वर्ष ... अमृतं दिवस्परि। (वही-४।१५।१०)
३. यां ते कृत्या कूपे वदधुः। (वही-५।३१।८, ६।४।१६)
४. याः कुम्भ आमृताः। (वही-१।६, ४।१०)
५. वही-१।५।४, ५।१३।६, ११।२।२
६. अथर्व संहिता भाग-१, पृ. ५, अथर्व.-१।६।४
७. वै. इण्डे. भाग-१, पृ. २१४
८. मा नो वधीर्विधुता ... रश्मिभिः सूर्यस्य। (अथर्व.- ७।११।१)
९. वही-५१।१७।२२, कौशिक सू.-६।५०
१०. विराजः एनुष्टिः ... पववमा यवन्। (अथर्व.-३।१७।२)
११. अथर्व.- ३।२४, कौशिक सू.-२१।१
१२. शूर्प तुषं पलावानप ततिनक्तु। (वही-१२।३।१६, अथर्व संहिता अनु. पृ. ६८६)
१३. वही-३।२४।७, वै. इण्डे. भाग-१, पृ. २२२
१४. ब्रीहि मृत्तं यवमत्त मथो माषमथो तिलम्। (वही-६।१०४।१)

दुग्धा गाय को गृष्टि कहा जाता था।[१] दूध देने वाली दुग्धा गाय को धेनु कहा जाता था।[२] बाँझ गाय वशा तथा बच्चा देकर बाँझ होने वाली गाय को सूतवशा कहा गया है।[३] पशुओं की संरक्षा के लिए देव प्रार्थनाएँ की जाती थीं।[४] गायें मनुष्यों की दैवी आस्था के कारण अवध्य समझी जाती थीं। उनके कानों पर किसी धार्मिक भावना से प्रेरित होकर चिन्ह लगाया जाता था। जिसे अश्विनी कुमार सन्तान वृद्धि हेतु बनाते थे।[५]

बैल : बैल हल जोतने तथा बोझ खीचने के लिए नियमतः काम में लाये जाते थे। इनके लिए प्रयुक्त साधारण शब्द वृष या ऋषभ था।[६] गाड़ी खींचने में समर्थ बैल को अनड्वान कहते हैं।[७]

घोड़ा : घोड़े के लिए अश्व, अर्वन और वाजिन शब्द मिलते हैं। सर्वोच्च कोटि का घोड़ा अर्वन तथा तेज दौड़ने वाला घोड़ा वाजिन कहा जाता है।

अन्य पशु : बकरे को अञ्जा या अज कहते थे।[८] भेड़ का भी बकरे के साथ उल्लेख है।[९] ऊँट भी आर्यों का उपादेय पशु था। वह भारी रथों को खींचने का काम करता था।[१०] इसके अतिरिक्त अन्य जंगली पशुओं में हाथी[११], मृग, सिंह, व्याघ्र, शृगाल, भेड़िया, ऋक्ष आदि का उल्लेख है।[१२]

४. व्यापार

इस काल में वणिक अपने सामानों को व्यापार हेतु एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता था।

५. व्यवसाय

सभ्यता और संस्कृति के विकास ने व्यवसायों को प्रोत्साहन दिया। उनकी विभिन्न आवश्यकताओं, जैसे–कृषि, युद्ध धर्म आदि ने विभिन्न व्यवयायों को जन्म दिया।

पुरोहिती : वे यज्ञ सम्पादन, अध्यापन और अभिचार आदि के कार्यों द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। प्रधान यज्ञकर्ता पुरोहित को ऋत्विज् कहा जाता था। पुरोहितों में होता, अध्वर्यु, प्रशास्तृ, उद्गाता आदि होते थे।

---

१. केवलीन्द्राया दुदुहे ... प्रथमं दुहाना। (अथर्व.,८।६।२४)
२. यशं दुहानं ... धेनुं सदन रयीणाम्। (वही-१२।१।३४)
३. त्रीणि वै ... सूतवशा वशा। (वही-१२।४।७४)
४. वही,२।२६, ३।१४
५. लोहितेन स्वधितिना ... प्रजया बहु। (वही-६।१४१।२)
६. सा सहान इव ऋषभः। (वही-३।६।४, ६।१४।१६)
७. श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभिगच्छतः। (वही- ४।११।१०)
८. अज - (वही-६।७१।१), यावतीनामजावयः - (वही- ८।६।२५, ५।२१।५)
९. अजो भागस्तपसस्तं तपस्व। (वही-१८।२।८)
१०. उष्ट्रा यस्य ... इषमाणा उपस्पृशः। (वही-२०।१२७।२)
११. यथा हस्ति हस्तिन्याः पदेन पदमुधजे। (वही-६।७०।२)
१२. ये त आरण्याः ... प्ररुषादश्चरन्ति। (वही-१२।१।४६)

भिषग् कर्म : समाज में वैद्य का काम आथर्वन् और आङ्गिरस करते थे। इनकी औषधि बहुत ही विख्यात थी।[१]

ज्योतिषी : अथर्ववेद के दो सूक्तों में २८ नक्षत्रों का वर्णन है।[२] यजुर्वेद में ज्योतिषी का वेचक शब्द गणक और नक्षत्रदर्श प्राप्त होता है।[३]

६. उद्योग-धन्धे : इस काल के उद्योग-धन्धे उस काल की विकसित सभ्यता पर प्रकाश डालते हैं।

रथकार : रथकार को अथर्ववेद में धीवान् की उपाधि दी गई है।[४] हल जोड़ने वाले को कवि कहा गया है।[५] हिलेब्रान्ट के अनुसार अनुस् जाति ही रथकार वर्ग के निर्माण का आधार थी। क्योंकि यह जाति इन ऋतुओं की उपासक थी जो अत्यन्त उत्कृष्ट रथ निर्माता माने जाते थे।[६] यास्क का मत है कि सुधन्वा आङ्गिरस के ऋभुः, बिम्बा और वाज नामक तीन पुत्र थे, जो रथ निर्माण के कार्य से देवत्व प्राप्त करते थे।[७]

कर्मार धातु शिल्पी : अथर्ववेद में एक स्थान पर अच्छे कर्मारों द्वारा धातु को अग्नि में गलाने का उल्लेख है।[८]

तक्षन् : यह शब्द अथर्ववेद में मात्र एक बार ही आया है।[९] मैकडानल के अनुसार ये लकड़ी की वस्तुएँ तथा बारीक नक्काशी के कार्य करते थे। इनके निर्मित यन्त्रों में कुलिश और परशु आदि हैं।

कुलाल (कुम्हार) : यह पात्र बनाने वालों का द्योतक है। संहिता में इनका उल्लेख नहीं है। कुम्भ की उपस्थिति उसके कर्त्ता को सिद्ध करती है।[१०]

---

१. आथर्वणीराङ्गिरसी ... त्वं प्राण जिन्वसि। (वही-११।४।१६)
२. वही-१६।७, १६।८, ६।११०, १६।११३
३. ज्येष्ठघ्न्यां ... पाहयेनम्। (६।११०।२, वाजसनेयी-३।२०; वै. इं. भाग १, पृ. २४२)
४. यस्ते परुंषि संदधौ - रथस्येवर्भूर्धिया। (अथर्व. - १०।१।८, ४।१२।७, ६।१०।८३)
५. सीरा युञ्जन्ति कवयो युगावि तन्वते पृथक्। (वही-३।१७।१)
६. वैदिक माइथोलॉजी ३।१५२-१५३, वै. इं. २, पृ. २७
७. सुधन्वन ... बिम्बा वाज इति। (निरुक्त-११।१६, अथर्व., ४।१२।७)
८. सुकर्माणः सुरुचो ... अग्निं वावृधन्त। (वही-१८।३।२२)
९. यत् त्वा ... हस्तेन वास्या। (वही-१०।६।३)
१०. कुम्भान् ... (४।४०।१८।३, ६८।५।२५)

इषुकार या इषुकृत : ये लोग बाण बनाने का व्यवसाय करते थे। अथर्ववेद[१] में बाण के भागों को इस प्रकार गिनाया गया है–शरदण्ड, परवाला भाग, नोंक, नोंक के गले का भाग जिसमें शरदण्ड लगा होता था। उसके भावों को अपस्कम्भ और अपाषष्ठ भी कहा जाता था जिनका आशय सन्देहजनक है। अन्यत्र विषययुक्त बाण का उल्लेख है।[२]

वस्त्र बनाने का व्यवसाय : इस काल में धागे को तन्तु कहा जाता था तथा बाना को औतु।[३] खूँटियों को मयूख कहा जाता था, जिससे सूत ताना जाता था।

नाई : इसे वप्तु कहा जाता था। उस्तरे को क्षुर से गर्म पानी से बाल बनाने का वर्णन एक सम्पूर्ण सूक्त में आता है।[४]

मलग : यह शब्द धोबी का द्योतक है।[५] सम्भवतः उसका मूलतः अर्थ मल से सम्बद्ध रहा हो।[६] त्सिमर का विचार है कि मल का अर्थ मलिन परिधान मात्र से है।[७] वस्त्र प्रच्छालनकर्त्ता का दूसरा नाम वासः पल्पूली था।[८]

गोप्तृ : यह गोपाल का मूल शब्द ज्ञात होता है।[९] पशुप भी इसी बात का द्योतक है।[१०]

कीनाश : ये लोग हल चलाते थे।[११] इनका चिन्ह आष्ट्रा था।

धातुव्यवसाय : अयस् धातु का पात्र बनता था।[१२] त्सिमर महादेय इससे काँसे का आशय स्वीकार करते हैं।[१३] ग्रिफिथ अयस् का अनुवाद लोहा करते हैं।[१४] अथर्ववेद में अयस् को

---

१. अथर्व., ४।६।४-५
२. वही,६।७५।१५
३. ये अन्ता यावतीः ... स्योनमुप स्पृशात्। (वही-१४।२।५१)
४. मुरिजोस् (ब्लूमफील्ड, पृ. १६७, ६।६८)
५. एतं त्वचं ... हव त्रस्त्रा। (अथर्व., १२।३।२१)
६. सेण्ट पीटर्सबर्ग कोष वर्णक्रम स्थानीय।
७. आल्टिण्डिशेलेबेन, पृ. २६२
८. वाजसनेयी संहिता-,३०।१२; वै. इं. भाग २, पृ. ३२६
९. शतं गोप्तारः अधिपृष्ठ अस्याः। (अथर्व., १०।१०।५)
१०. ऋग्वेद,१।११४।६
११. शुनं कीनाशा अनुयन्तु वाहान्। (अथर्व., ३।१७।५)
१२. अयस्पात्रं पात्रम्। (वही,८।१०।२२)
१३. आल्टिण्डिशे लेबेन, पृ. ५२
१४. हिम्स ऑफ अथर्ववेद, भाग-१, पृ. ४१, मन्त्र - ८।१०।२२

दो उपप्रकारों में विभक्त किया गया है–श्याम तथा लोहित।[१] वैदिक इण्डेक्स के लेखक श्याम तथा लौह को क्रमशः लोहा तथा ताँबा कहते हैं। अन्यत्र श्याम शब्द धातु के हेतु प्रयुक्त है।[२] व्हिटने ने अयोमुखाः का लोहे के मुख आशय लिया है।[३]

रत्न : यह किसी मूल्यवान पदार्थ का द्योतक है।[४]

रजत : चाँदी को रजत कहा गया है। कुबेर का पुत्र रजत नाभि कहा गया है।[५]

सुवर्ण : यह स्वर्ण का वाचक है।[६] इस हेतु दूसरा प्रयुक्त शब्द हिरण्य है। अथर्ववेद में इसका उल्लेख कई बार हुआ है।

अर्थ-व्यवस्था

अथर्ववैदिक काल के व्यापारी को वणिक कहा जाता था। मोलभाव के लिए प्रपण शब्द का प्रयोग प्रचलित था। विक्रय को प्रतिपण कहते थे।[७] शुल्क का अर्थ कर है।[८] खरीदने के अर्थ में विक्री और अपक्रीत का प्रयोग होता था।[९] क्रय शब्द विनिमय के लिए प्रयुक्त होता था।[१०]

-विक्रय के माध्यम : व्यापार का अधिकांश रूप अदला-बदली पर आश्रित था। वस्तु ने वस्तु का क्रय होता था। क्रय-विक्रय का मुख्य माध्यम गाय, वस्त्र एवं चर्मादि थे। ा अर्थ स्वर्णाभूषण प्रतीत होता है।[११] यह दक्षिणा देने हेतु भी प्रयुक्त होता था।[१२] न्त्र में सौ सुवर्ण के सिक्कों का वर्णन है।[१३] इससे प्रतीत होता है कि निष्क मुद्रा का ाक था।

---

१. श्याममयोस्य मांसानि लोहितस्य लोहितम्। (अथर्व., ११।३।७)
२. अनुच्छय श्यामेन त्वचमेतां। (वही-६।५।४)
३. अथर्ववेद संहिता, पृ. ६५६, मन्त्र ११।१०।३
४. उत वा शक्रो रत्नं दधात्। (वही, ५।१।७, ७।१५।४, ३०।१।१८, १८।१।२६, २।५।३)
५. तां रजतनाभिं काबेरको धोक। (वही-८।१०।२८)
६. वही-१५।१।२
७. अथर्व. का अनुवाद, पृ. ४-६, मन्त्र ३, १५
८. स नाकमभ्यारोहति ... अबलेन बलीयसे। (वही-३।२६।२)
९. अपक्रीतः वीरुषा। (वही-८।७।११, ४।७।६)
१०. यथा क्रीत्वा धनमाहराणि। (वही-३।१५।२)
११. नास्य क्षता निष्क ग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। (वही-५।१७।१४)
१२. निष्का एते यजमानस्य लोके। (वही-७।६६।१)
१३. शतं निष्का हिरण्ययाः। (वही-२०।१३१।५)

वणिक वर्ग : व्यापारी को वणिक के अतिरिक्त पणि भी कहा जाता था। अथर्ववेद संहिता में देवों को धन न देने वालों को पणि कहा गया है।[१] वणिक व्यापार की सफलता के लिए इन्द्र से प्रार्थना करते हुए उसे वणिक कहता है।[२]

यातायात के साधन

अथर्ववेद में ऐसे विवरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यापारी विभिन्न स्थानों में व्यापार करने की योजना बनाता था।[३]

नावों का व्यापार में स्थान : नाव की उपस्थिति व्यापार को सुगम बनाने की ओर सङ्केत करती है।[४] इस समय लोगों को समुद्र विषयक ज्ञान था और उसमें उत्पन्न शङ्ख व मोती से परिचित थे।[५]

लेन-देन : अथर्व वैदिककाल में ऋण लेने की प्रथा भी प्रचलित थी। उनकी भावना थी कि न दिया हुआ ऋण दूसरे लोक में भी बाधक था। अथर्ववेद के तीन सूक्तों में ऋण सम्बन्धी विवरण प्राप्त होते हैं।[६]

---

१. यश्च पणि ... तदपागिति शुश्रुम। (अथर्व., २०।१२८।४)
२. येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय। (वही-४।२३।५)
३. इन्द्रमहं वणिजं ... कृत्वा धनमाहराणि। (वही-३।१५।१, २)
४. भगस्य नावमारोह ... यो वरः प्रतिकाम्यः। (वही-२।३६।५)
५. शङ्खो नो विश्व ... पात्वं हसः। (वही-४।३०।१, ४।१०।४)
६. ये देवयानाः ... अनृणा आक्षियेम। (वही-६।११७।३)

सप्तम अध्याय

अथर्वाङ्गिरस की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ

भैषज्य विज्ञान

भैषज्य विज्ञान भारतीय संस्कृति के लिए अमूल्य देन है। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के भिषक् एवं विविध प्रकार की औषधियों का प्रचुर मात्रा में वर्णन किया गया है।[१] चारों वेदों के उल्लेख क्रम में इसका नाम "भेषक" वेद है।[२] अथर्ववेद के प्रमुख ऋषिगण इस कार्य को व्यवसाय मानकर करते हैं। अथर्व सिद्धान्तों के अन्तर्गत एक स्थल पर आथर्वन एवं अङ्गिरसी नामक औषधियों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त है।[३] गोपथ ब्राह्मण में अङ्गिरसों द्वारा मन्त्रविद्या से तथा अथर्वों द्वारा रसीली औषधियों से उपचार का वर्णन उपलब्ध होता है।[४] वेद के अर्थ में अथर्ववेद का सबसे प्राचीन नाम अथर्वाङ्गिरस ही प्राप्त होता है।[५] पञ्चविंश ब्राह्मण में आथर्वन् का भेषज से सम्बन्ध बताकर उसकी औषधियों को देवों की औषधियों की भाँति गुणकारी कहा गया है।[६] ब्लूमफील्ड[७] ने भैषज्य सम्बन्धी अरसा सूक्तों [illegible]ा उल्लेख किया है।

परवर्ती साहित्य में भी चिकित्साशास्त्र के रूप में अथर्ववेद की महत्ता स्वीकृत है। [illegible]थ ब्राह्मण में भी इसी आशय का उल्लेख प्राप्त होता है।[८] शाङ्खायन श्रौतसूत्र में [illegible]र्ववेद को भैषज वेद की संज्ञा दी गई है।[९] आश्वालायन श्रौतसूत्र में भी इसी प्रकार का [illegible]ङ्ग है।[१०] सुश्रुत संहिता में आयुर्वेद को अथर्ववेद का अङ्ग कहा गया है।[११] काश्यप संहिता में भी आयुर्वेद की उत्पत्ति का कारण अथर्ववेद अङ्कित है।[१२] चरक संहिता में भिषक् शास्त्री चरक का कथन है कि चिकित्सक को अथर्ववेद का अध्ययन करना चाहिए।[१३] ब्रह्मवैवर्तपुराण में आयुर्वेद को पञ्चमवेद की संज्ञा प्राप्त है।[१४]

---

१. शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः। (अथर्व., २।९।३)
२. ऋचः सामानि भेषजा ... यंजूषि होत्रा ब्रूमः। (वही-११।६।१४)
३. आथर्वणीराङ्गिरसी ... त्वं प्राण जिन्वसि। (वही-११।४।१६)
४. भूयिष्ठं ब्रह्म यद् ... येऽथर्वाणस्तद्भेषजम्। (गोपथ ब्रा.- ३।३।४)
५. सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। (वही-१०।७।२०।११)
६. भेषजं वा आर्थवाणि। (वही-१०॥७।२०, भेषजं वै देवानां ... ताण्ड्य ब्रा.- १६।१०।१०)
७. हिम्स आफ द अथर्ववेद, सै. बु. आफ द ईस्ट, भाग ४२
८. शतपथ ब्रा. - १३।४।३।३
९. अथर्ववेदो वेदः ... भेषजं निगदेत्। (शां. श्रौ. सू., १६।२।१)
१०. आश्व. श्रौ. सू. - १०।७।१
११. इह खलु आयुर्वेदन्नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य। (सुश्रुत सं.,१।१।५)
१२. कथं चोत्पन्न इति ... अथर्ववेद श्रयति। (कश्यप सं.- पृ. ४२)
१३. तत्र भिषजा ... चिकित्सा ब्राह। (चरकसं - १।३०।२०-२१)
१४. आयुर्वेदं चकार सः ... ददौ विभुः। (ब्रह्मवैवर्त पु. - १।१६।९-१०)

भैषज्य विज्ञान का स्रोत

अथर्ववेद संहिता में प्राप्त विवरणों से ज्ञात होता है कि मनुष्य ने अपने से इतर जीवों से औषधिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया है। मनुष्यों ने देखा कि पशुओं में एक प्रकृत्या प्रेरणा होती है, जिससे वे अपने चारों ओर व्याप्त वनस्पतियों का सेवन करने में सक्षम होते हैं।[१] अन्यत्र भी सुपर्ण द्वारा औषधि जानने और शूकर द्वारा रखने का सन्दर्भ है।[२] मानव ने औषधिशास्त्र का ज्ञान सर्वप्रथम पशु-पक्षियों से प्राप्त किया। इनका जीवन वानस्पतिक जगत पर ही अवलम्बित माना जाता है। आधुनिक युग में चिकित्साशास्त्र की महती प्रगति में भी पशुओं का योगदान है। सर्वप्रथम पशुओं पर ही परीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् औषधि का निर्माण होता है। इस प्रकार अथर्व साहित्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक प्रकरण प्राप्त होता है।[३]

रोग उत्पत्ति के कारण

अथर्व-सिद्धान्तों के अनुयायियों का मत है कि मनुष्य के शरीर में रोग का कारण बादल, वायु के झोंके आदि के साथ ही अन्य विभिन्न प्रकार के कीटाणु भी हैं।[४] कुछ रोगों के उत्पादक भूत-पिशाच, दानव, गन्धर्व और देव है।[५]

१. ऋतुओं से उत्पन्न : कुछ रोग ऐसे हैं, जिनकी उत्पत्ति मौसम के अनुसार होती है। वर्तमान समय में भी आषाढ़, आश्विन, चैत्र के माह में भयानक बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं।

२. अमानवीय शक्तियों द्वारा : अथर्व सिद्धान्तों में मुख्य रोगों की उत्पत्ति भूतों एवं पिशाचों द्वारा मानी गई है।[६]

गन्धर्व : सम्पूर्ण सूक्त में राक्षसों के साथ गन्धर्वों और अप्सराओं को अजाशृङ्गी औषधि के द्वारा दूर करने का वर्णन है।[७] ये बीमारियों को भी उत्पन्न करते हैं। शतावार

---

१. डॉ. सत्यप्रकाश, वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पृ. २१६, अथर्व.- ८।७
२. अथर्व. - ५।१४।१
३. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा,पृ. २१६
४. मुञ्च शीर्षतत्तमा ... पर्वतांश्च। (अथर्व.- १।१२।३)
५. वही-८।६।१६
६. अस्येन्द्र कुमारस्य ... उग्रेण वचसा मम। (वही-५।२३।२)
- यस्त्वास्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेवच। (वही-८।६।७)
- य आमं मासमदन्ति ... नाशयामसि। (वही-८।६।२३)
७. त्वया वयमप्सरसो ... सर्वान् गन्धेन नाशय। (वही-४।३७।२)

औषधि उनकी नाशक है।[१]

अभिचार द्वारा : रोगों की उत्पत्ति अभिचारों से भी होती है। इसे यातुविद्या की संज्ञा दी गई है। इस हेतु देवता से प्रार्थना की गई है कि सम्पूर्ण यातुधानों को नष्ट करें।[२]

शाप द्वारा : सूक्तों में शाप को नष्ट करने[३] की प्रार्थना मिलती है।[४] कभी-कभी माता-पिता के पाप से भी व्यक्ति रोगग्रस्त रहता है।[५]

देवों द्वारा : अथर्व-सिद्धान्तों में यत्र-तत्र रोगों की उत्पत्ति देवों द्वारा भी वर्णित है।[६] एक स्थान पर तक्मन और कफ रुद्र के अस्त्र कहे गए हैं।[७] वर्षा के देव पर्जन्य[८] और विद्युत भी सिरपीड़ा और ज्वर को उत्पन्न करने वाले हैं।[९]

कीटाणुओं से रोग की उत्पत्ति : अथर्ववेद में तीन सूक्त कीटों से सम्बन्धित हैं।[१०] सूक्त में उन कीड़ों को मारने का वर्णन है।[११] ये कीड़े अत्यन्त ही विषाक्त होते हैं।[१२] आर्यों की यह धारणा है कि रोगों की उत्पत्ति कीटों से होती है। वास्तव में यह धारणा प्रशंसनीय है। वर्तमान चिकित्सा जगत के शास्त्रियों का यह मान्य सिद्धान्त है कि अधिकांश रोगों के कारण कीटाणु हैं।

चिकित्सा प्रणाली

अथर्व वैदिक भिषक् कुछ रोगों का विनाश शल्यतंत्र द्वारा, कुछ का वास्तविक औषधि से, कुछ का मन्त्रविद्या के द्वारा तथा अन्य का रक्षाकरणों की दृष्टि से करता है।

शल्य चिकित्सा : आश्विनकुमार देवों के भिषक् हैं।[१३] उन्होंने दौड़ में टूटी टाँग वाली विश्पला

---

१. शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतं। (अथर्व.- १६।३६।६)
२. ऐतु देवस्त्रायमाणः ... सर्वाश्च यातुधान्यः। (वही-१६।३६।१)
३. ब्रह्मा यन्मन्युतः शतातसर्व तन्नो अधस्पदम्। (वही-२।७।२, १।२६।३)
४. मुञ्चन्तु मा ... यमश्च षड्विशाद्। (वही-६।६६।२, १६।५३।३)
५. यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्। (वही-५।३०।४)
६. मुञ्चामि वरुणादहम्। (वही-१।१०।३, २।१०।१, ४।१६।७, ७।८३, १६।४४।८)
७. यस्य तवमा कासिका हेति। (वही-११।२।२२)
८. वही-१।२
९. वही-१।१२
१०. वही-२।१३, २।३२, ५।२३
११. दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरुमतृहम्। (वही-२।३१।२)
१२. मिनदिम ते कुणुम्भं यस्ते विषधानः। (वही-२।३२।६)
१३. प्रत्यौहतामश्विना ... भिषजा शचीभिः। (वही-७।५३।१)

घोड़ी की टाँग लोहे की बनाई है।[१] शत्रु द्वारा क्षत-विक्षत श्यावास्व को उन्होंने पुनर्जीवित किया था।[२]

औषधियों द्वारा : अनेक रोग ऐसे भी होते हैं, जो बिना शल्य क्रिया के औषधियों द्वारा ठीक किये जाते हैं। इस पर विस्तृत विचार आगे किया जायेगा।[३]

मन्त्र सिद्ध मणियों द्वारा : मणि एक प्रकार के रक्षाकरण्ड को कहते हैं। आङ्गिरस सिद्धान्तों के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के सूक्त उपलब्ध होते हैं।[४] पर्ण वृक्ष की मणि बाँधने से ऐश्वर्य प्राप्ति होती है। स्त्रक्त्थ मणि कृत्या को नष्ट करती है।[५] शल्यवीर चर्मरोगों की नाशक है।[६] दक्ष वृक्षमणि पैशाचों और ग्राह रोगों की नाशक है।[७] शङ्ख मणि सब प्रकार के पापों से रक्षा करती है।[८]

मन्त्रों द्वारा चिकित्सा : रोग कीटाणुओं को मन्त्र चिकित्सा से भी दूर करने का उल्लेख प्राप्त है।[९] एक सूक्त में विष दूर करने के उपाय बताए गए हैं।[१०]

शरीर विज्ञान

अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों के द्वारा यह स्पष्ट होता है कि अथर्व वैदिक भिषक् कुशल शरीरशास्त्री थे। एक सूक्त[११] में विभिन्न अस्थि संस्थानों और मनुष्यों के अङ्गों का विवरण प्राप्त है।[१२]

अङ्गों का ज्ञान : भिषक़ों के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्पूर्ण अङ्गों के विषय में पूर्णतया ज्ञान प्राप्त करे। एक सूक्त में यक्ष्मा को सभी अङ्गों से भगाने का वर्णन है।[१३] औषधि के अधिष्ठाता वैद्य शरीर की विभिन्न नाड़ियों से भलीभाँति परिचित हैं।[१४] एक स्थल पर आठ

---

१. ऋग्वेद, १।११७।२४
२. यदि कर्तं पतिस्वा ... दधत् परुषा परुः। (वही-४।१२।७)
३. अथर्ववेद - पृ. १७६-१८४
४. वही- ३।५।१-८
५. प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः। (१८।५।१; उत्तमो अस्योषधि नाम- वही-८।५।२११)
६. शतवारो यविनशयक्ष्मा ... मणिर्दुणमिचतानः। (वही-१६।३६।१, ४)
७. दशवृक्ष मुञ्चेमं ... ब्राह्मण उत विरुधः। (वही-२।६।१,४)
८. पार्त्वहस समुद्रजः। (वही-४।१०।३-४)
९. अन्वान्त्रयं शीर्षण्यमथो ... क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि। (वही-२।३१।४)
१०. वही-७।८८
११. वही-१०।१
१२. वही-१०।२।१-८
१३. अक्षिभ्यां ते ... वि वृहामि ते। (वही-२।३३।१, २)
१४. येते नाड्यो देवकृते। (वही-६।१३८।४)

मन्यों का उल्लेख है, जिसे सायण ने गर्दन की नसें कहा है।[१] अन्य स्थलों पर स्नायु का उल्लेख है।[२] सायण ने स्नायु का अर्थ सूक्ष्म शिराओं से किया है। एक सूक्त में धमनी और शिराओं के विषय में लिखा है कि शिरा में लोहित रङ्ग का रक्त है।[३] इसकी सैकड़ों धमनियाँ हैं और हजारों शिराएँ हैं, वे साथ-साथ रहें।[४] सायण धमनी को हृदयगत प्रधान नाड़ी और शिरा को शाखा नाड़ी कहते हैं।[५]

भिषकगण

इन भिषकों में आथर्वण, अङ्गिरस और अगस्त्य आदि प्रमुख हैं। औषधिशास्त्र में अथर्व तथा आङ्गिरस निपुण माने गये हैं।[६]

अङ्गिरस : अभिचार कृत्यों के प्रयोग करने के कारण इन्हें घोर कहा गया है।[७] ये जिनके पुरोहित होते हैं उनके ऊपर दूसरों द्वारा किए गए कृत्या का निवारण भी करते हैं।[८] ये सभी रोगों की औषधि कुष्ठ पौधे को उत्पन्न करने वाले कहे गए हैं।[९] जङ्गि नामक औषधि का आविष्कार प्रथमतः अङ्गिरसों ने ही किया है। इससे पूर्व किसी भी प्रकार की औषधि के होने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।[१०] इन ऋषियों के द्वारा निर्मित की गई औषधि इनके नाम से ही प्रख्यात है।[११]

आथर्वन : अथर्वा ऋषि और उनके वंशज ब्राह्मणों के द्वारा प्रयुक्त औषधियाँ आथर्वणी औषधि कही गई हैं।[१२] ये लोग अजाशृङ्गी वनस्पति से राक्षसों को दूर भगाने का कार्य करते हैं।[१३] अगस्त्य ने इस औषधि से राक्षसों का नाश किया है।[१४] कण्व, अत्रि, जमदग्नि तथा कश्यप ऋषियों ने मन्त्रों द्वारा रोग कीटाणुओं का विनाश किया है।[१५] कण्व की औषधि

---

१. अथर्व. , २।१२।७
२. वही-७।५०।६, ११।८।११, २, १२।६।५६
३. वही-१।१७।१, ३, ७।५३।३
४. अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः। (वही-२।३३।६)
५. हृदयं गतानां ... शाखानाडीनाम्। (वही-१।१७)
६. या कृत्या आङ्गिरसीः। (वही-८।५।६)
७. इन्द्रो विदुराङ्गिरसश्च घोरा। (ऋग्वेद-१०।१०८।१०)
८. अथर्व.- १६।३६।५
९. अङ्गिरेभ्यः स एव कुष्ठो विश्व भेषजः। (वही-१६।३६।५)
१०. वही-१६।३४।७
११. आथर्वणी आङ्गिरसी ... औषधयः प्रजायन्ते। (वही-११।४।१६)
१२. वही-११।४।१६
१३. त्वा पूर्वमथर्वाणो ... कण्वो अगस्त्यः। (वही-४।३६।१)
१४. अगस्त्यस्य ब्रह्मणासं पिनष्म्यहं क्रिमीन्। (वही-२।३२।३)
१५. अत्रिवद्वक्रिमियो ... अग्निवत्। (वही-२।३२।३)

अत्यन्त रुग्ण व्यक्ति को जीवन प्रदान करती है।[१] अपामार्ग औषधि ब्राह्मण नार्षदकण्व द्वारा प्रस्तुत की गई है।[२] प्रकृति से अधिक सानिध्य होने के कारण इन लोगों का स्वास्थ्य सम्बन्धी ज्ञान अधिक एवं परिपक्व प्रतीत होता है। बहुत से प्रसङ्गों में देवों द्वारा भी चिकित्सा की गई है।[३] इसी क्रम में अग्नि[४] और इन्द्र[५] भी भिषक् कर्म करते हुए वर्णित हैं। भिषक् कार्य जीवन के हर अङ्ग से सम्बन्धित हो गया है।[६]

विभिन्न रोग

मनुष्य के जीवन में रोग प्राकृतिक प्रकोप, अभिचार, दानवीय कृत्य, गन्धर्व एवं पिशाचों के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। एक सूक्त में रोगों का आङ्गिक नाम प्राप्त होता है। उनमें सिर के रोगों को शीर्षामय और कान की पीड़ा को कर्णशूल कहा गया है।[७] अन्तरङ्ग रोग यक्ष्मा कहलाते हैं।[८]

बलास : इस रोग में अस्थियाँ और जोड़ अलग हो जाते हैं।[९] इसकी उत्पत्ति, प्रेम, विरक्ति तथा हृदय विकार के कारण होती है।[१०] सायण इसकी व्याख्या यक्ष्मा के रूप में करते हैं।[११] ग्राहमैन इसका लक्षण ज्वर के सूजन को मानते हैं।[१२] इसके उपचार में त्रिककुद, आञ्जस और जङ्गिड पौधे का उल्लेख है।[१३]

अपचित : सायण इसका अनुवाद गण्डमाला करते हैं।[१४] इसका उल्लेख अनेकशः हुआ है।[१५]

किलासा : यह श्वेत कुष्ठ नामक रोग का नाम है। इसमें त्वचा पर भूरे, सफेद आदि

---

१. आयुर्वर्गं विपश्चितं ... निशमयत्। (वही-६।५३।३)
२. वही-४।१९।२
३. चिकत्सतु प्रजापतिर्दीर्घायुत्वाय ...क्षसे। (वही-६।६८।२)
४. वही-१०।४।१६, १८
५. वही- ६।१०।६।३
६. वही-२।६।३
७. वही-९।८।१
८. वही-९।८।७, २१
९. वही- ६।१४।१
१०. वही- ९।८।८, ६।१४।१
११. वही - १९।३४।१
१२. इण्डिशे स्टूडियन-९।३९६
१३. अथर्व.- ४, ९, १९, ३४, १०
१४. सै. बु. ऑफ द ईस्ट, भाग ४२, पृ. ५०३-५०४, अथर्व. एण्ड गोपथ ब्रा. पृ. ५६
१५. अपचितः प्रपतत ... चक्रमा वो पोच्छतु। (अथर्व. - ६।८३।१, ६।२७।७, ६।७५-७७)

चित्र-विचित्र धब्बे पड़ जाते हैं।[1] यह हड्डियों आदि शरीर के विकार तथा अभिचार के द्वारा उत्पन्न होता है।[2] इसकी असिवनी तथा आसुरी[3] रूप दो औषधियाँ हैं।

विष्कन्ध : इस शब्द का प्रसङ्ग कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।[4] वेबर का अभिमत है कि विष्कन्ध गठिया एवं वात रोग से सम्बन्धित है क्योंकि यह कन्धों को अलग-अलग खींच देता है।[5] ब्लूमफील्ड इसे किसी दानव का नाम मानते हैं।[6]

हरिमा : इस रोग की विवेचना एक सूक्त में उपलब्ध है।[7] सायण इसका प्रयोग छद् रोग कामल की शांति हेतु बतलाते हैं। इसका समीकरण आयुर्वेद के इलीमक रोग से किया जा सकता है, जो पाण्डुरोग के आठ प्रकारों में से एक है।[8] इसका निवारण सूर्य की किरणों से होता है।[9]

जायान्य : इसका उल्लेख पीतरोग और हाथ-पैर की पीड़ा के साथ है।[10] त्सिमर का विचार है कि यह दोनों इस रोग के लक्षण हैं और वे इसे यक्ष्मा रोग के साथ समीकृत करते हैं।[11] इस रोग की प्रकृति संदिग्ध है।[12]

ग्राही : इसका उल्लेख दो सूक्तों में हुआ है।[13] सायण इसे ब्रह्मराक्षसी कहते हैं।[14] इसकी चिकित्सा मन्त्रविद्या से होती है।[15] रोग की उत्पत्ति अशुभ फलों और देवों-दानवों के शाप के कारण होती है। यह भ्रूणनाशक रोग है।[16]

---

१. किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्। (अथर्व.-१।२३।२)
२. अस्थिजस्य किलास्य ... श्वेतमनी नशम्। (वही-१।२३।४)
३. असितं ते प्रलयन ... निरितो नाशया पृषत्। (वही-१।२३।३।१।२४।२)
४. वही-१।१६।३, २।४।१, ३।६।२-६
५. इण्डिशे स्टूडियन - ४।४१०।१३, १४; वै. इं., भाग-२ पृ. ३५२
६. अथर्ववेद,२८२, २८३
७. अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं वि दध्मसि। (वही-१।२२।४)
८. अनु सूर्यमुयतां हृद्योतो हरिमा चते। (वही-१।२२।१)
९. यो हरिमा जायान्यो गभेदो विसल्मकः। (वही-१९।४४।२)
१०. वही-१९।४४।२
११. आल्टिण्डिशे लेबेन ३७७; वै. इं. भाग-१, पृ. ३२०
१२. यो हरिमा जायान्यो .. बहिर्निहन्त्वाज्चानम्। (अथर्व.-१९।४४।२)
१३. वही-६।११२।१३
१४. ग्राहिर्ब्रह्मराक्षसी। (वही-३।२।५)
१५. यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु। (वही-६।११३।१)
१६. भ्रूणाघ्नि पूषन्दुरितानि भृक्ष्व। (वही-६।११२।३, ६।११३।१)

क्षेत्रिय : इसका उल्लेख तीन सूक्तों में प्राप्त होता है।[१] ब्लूमफील्ड का विचार है कि यह गण्डमाला है। यह घासों के विष से उत्पन्न होता है।[२]

आस्त्राव : इस रोग के उत्पन्न होने से अतिमूत्र दोष होता है। इस रोग की दवा मुञ्ज[३] और विषाण के पौधे हैं।[४]

यक्ष्मा : इस रोग से शरीर सर्वथा अक्षम हो जाता है। यह सौ प्रकार का होता है।[५] इसे राजयक्ष्मा और अज्ञात यक्ष्मा में वर्गीकृत किया गया है।[६] इसका एक नाम जायान्य भी देखने को मिलता है।[७] अञ्जन तथा गुग्गुलु इस व्याधि के निवारण की उपयुक्त औषधि है।[८]

तक्मन : यह अथर्व साहित्य का प्रमुख रोग एवं पाँच सूक्तों का प्रतिपाद्य विषय है।[९] इस रोग की तुलना ज्वर के साथ की गई है।[१०] प्रथम दो दिनों में इसे उभयेषु[११] तथा तीसरे दिन वाले तक्मन को तृतीय[१२] या तृतीयक कहा जाता है। अन्य दिनों के ज्वर को अन्येषु[१३] तथा लगातार कई दिन रहने पर इसे सदन्दि[१४] नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह पूरे वर्ष भी ग्रसित करता है। ऐसे तक्मन को शारद या हायेन कहा गया है।[१६] इस ज्वर का ताप अग्नि के समान जलाने वाला कहा गया है। यह रोग शीतकाल, शीतोष्णकाल, ग्रीष्म और वर्षाकाल[१७] में उत्पन्न होने वाला है। इस रोग से शरीर में कँपकपी उत्पन्न हो जाती

---

१. अथर्व., ३।७।२, १४।५, २।८।१०, ४।१८।७
२. सै. बु. ऑफ द ई., भाग ४२, पृ. ३८६
३. अथर्ववेद और आयुर्वेद, पृ. २४०
४. एवा रोगं चास्रावं चान्तिष्ठतु मुञ्ज उत्। (अथर्व., १।२।४)
५. वाजसनेयी संहिता, १२।६७
६. अज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्। (अथर्व., ३।११।१)
७. वैदिक इं., भाग-२, पृ. २०३
८. सर्व ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम्। (अथर्व.-१९।४४।२)
९. वही-१।२५।५, २२।६।२०, ७।११६।१९, ३१
१०. वही-५।३०।१६; व्हिटने, पृ. २७८
११. यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं। (वही-७।११६।२; वै. इं.-भाग १, पृ. ३२८-३२९)
१२. तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने। (वही-१।२५।४, ५।२२।१३, १९।३९।१०)
१३. वही-७।११६।२
१४. वही-५।२२।१३
१५. अग्निरिवास्य दहत् एति शुष्मिशः। (वही-६।१२०, ५।२२।२)
१६. तक्मानं शीतं रुरं गैष्मं नाशय वार्षिकम्। (वही-५।२२।१३)
१७. अयं यो विश्वान्हरितान् ... वध्वंस इवारुणः। (वही- ५।२२।२-३)

है।[१] इससे वर्तमान मलेरिया और इन्फ्यूएन्जा ज्वरों के विषय पर कदाचित प्रकाश पड़ता है। यह अपने दीर्घकालीन प्रभाव के कारण वर्तमान संक्रामक रोग टाइफाइड से समानता रखता है। वर्षा ऋतु में इसका अधिक प्रकोप रहता है। पानी में भीगने पर ठण्ड आने से यह रोग उत्पन्न होता है।[२] तक्मन का निवास स्थान दलदल भूमि वाले प्रदेशों, जङ्गलों, वन्य[३], तराई के क्षेत्रों और पर्वतीय स्थलों पर है। मन्त्र से मूजवन्त और महावृष नामक हिमालय की दो पर्वतीय जातियों में इसका अधिक प्रसार ज्ञात होता है।[४] यह रोगों में विशिष्ट माना गया है।[५]

औषधियों द्वारा रोगों का उपचार

अथर्व-साहित्य में रोग निवारण के लिए औषधियों को भी पर्याप्त महत्त्व दिया गया है। सोम का पौधा औषधियों का राजा कहा गया है।[६] ये औषधियां वर्षा के जल से पृथक्-पृथक् विकसित होती हैं।[७]

अजशृङ्गी : सायण ने इसे विषाणिन् कहा है। इसका दूसरा नाम अराटकी है।[८] यह औषधि गन्धवाली, श्वेतरङ्ग तथा कटीली बताई गई है।[९] यह अन्य औषधियों से अधिक शक्तिशाली है।[१०] अथर्व संहिता में इसे सुनहरे रङ्ग वाली कहा गया है।[११]

अपामार्ग : क्षुधा, तृष्णा, द्योतकार्य में पराजय एवं सन्तान का नष्ट होना, इन समस्त अनिष्ट कार्यों हेतु अपामार्ग निवारणार्थ औषधि को अपनाने का विधान है।[१२] इसको सायण ने सहदेवी के नाम से अभिहित किया है।[१३]

आवयु : एक सूक्त में[१४] इसका वर्णन विस्तार से किया गया है। सायण इसे सरसों के रूप

---

१. यत्वं शीता यो ... सहकासाबेपयः। (वही-५।२२।१०)
२. यदग्निरोपो अदह प्रविष्य। (वही-१।२५।१; वै. इं. भाग १, पृ. ३३०)
३. नमः कृणोमि वन्याय तक्मने। (वही-३।२०।३)
४. तक्मन्मूजवतो गच्छबह्लिकान्वा परस्तराम्। (वही-५।२२।७)
५. भिषकों द्वारा किये गए तन्त्र-मत्र के प्रयोग को याज्ञिक ब्राह्मण हेय दृष्टि से देखते थे।
६. वीरुधां सोमो राजा। (अथर्व. - ८।७।२०)
७. वर्षस्य सर्गा ... जायन्तमौषधीयो विश्वरूपाः। (वही-४।१५।२)
८. अजश्रृङ्गराटकी तीक्ष्ण शृङ्गी न्यषतु। (वही-४।३४।४)
६. वैद्यक शब्द सिन्धु, पृ. १७
१०. एयमगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती। (अथर्व., ४।३६।६)
११. हिरण्यमयीः। (वही- ४।३७।६)
१२. अपत्यताम् तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्। (वही-४।१७।६-७)
१३. वही-५।१४।१, ४।१६।५
१४. मदावती नाम ते माता। (वही-६।१६।१)

में समीकृत करते हैं।[१] इसकी उत्पत्ति मदावती से हुई है। इसका रस कड़वा होता है।[२] इसका पहला नाम अलसाला और दूसरा नाम सिलाजाला है।[३]

असिविन : यह भैषज्य पौधा रात्रि में उत्पन्न होता है।[४] एक सूक्त में इसका अतिरञ्जित वर्णन मिलता है।[५]

अरुन्धती : यह हड्डियों को बढ़ाने वाली औषधि है।[६] यह पौधा लतिका के समान होता है।[७] एक मन्त्र में अरुन्धती का प्रयोग बैल, गाय और अन्य चतुष्पाद प्राणियों के लिए किया गया है।[८]

आसुरी : यह औषधि श्वेतकुष्ठ नाशक है।[९] वैद्यक शब्दसिन्धु में इसे कफ, फुन्सियों और चमड़ी के रोग की विनाशक कहा गया है।[१०] सायण ने इसे नीला पौधा कहा है।[११]

कुष्ठ : यह पौधा कई स्थलों पर उद्धृत किया गया है।[१२] यह सिर दर्द, नेत्र रोगों, शारीरिक व्याधियों और विशेषकर ज्वर को शान्त करता है।[१३] अपने सामान्य गुणों के कारण इसका नाम विश्व भेषज रखा गया है।[१४]

खदिर : यह बड़ी लकड़ी वाला वृक्ष है, जिसे वर्तमान समय में खैरा या खैर कहा जाता है। यह अश्वत्थ पर वृक्षान्तरित होकर उगता है।[१५]

गुग्गुलु : त्सिमर के मत में यह किसी वृक्ष का गोंद है।[१६] अथर्व-साहित्य में इसे

---

१. अथर्व., ६।१६।१
२. रसस्त उग्र आवयो। (अथर्व., ६।१६।१)
३. अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। (वही-६।१६।४)
४. नक्तं जातास्योषधे इदं रजनि रजय। (वही-१।२३।१)
५. आ त्वा स्वो विशतां वर्णः पराशुक्लानि पातय। (वही-१।२३।२)
६. रोहण्यस्मश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति। (वही-४।१२।१)
७. भद्राप्लक्षा ... न एह्यरुन्धति। (वही-५।५।५)
८. वही-६।५६।१
९. आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशम्। (वही-१।२४।२)
१०. वै. श. सि., पृ. १२२
११. अर्नीनशत्किलासं सरुपमाकरत् त्वचम्। (वही-१।२४।२)
१२. वही-५।४।६, १२२
१३. त्रीणि ते कुष्ठ नमानि ... जीवन्ती नाम ते पिता। (वही-१६।३६।२)
१४. यक्ष्मं च सर्वनाशय तक्मानं चारसं कृधिः। (वही-५।४।६)
१५. अश्वत्था खादिरादधि। (वही-३।६।१)
१६. आल्टिण्डिशे लेबेन, पृ. २८

समुद्र से सम्बन्धित कहा गया है।[1]

चीपुद्रु : इस औषधि का प्रयोग घाव को ठीक करने के लिए किया जाता है।[2]

जङ्गिड : इस पौधे का प्रयोग तक्मन्, बलास, आसरी, विशरीक, पुष्टयामय, वातज पीड़ा और ज्वर, विष्कन्ध, सस्कन्ध[3] तथा जम्म इत्यादि रोगों के शमन हेतु होता है।

दर्भ : यह बहुत शक्तिदायक तथा हृष्टपुष्ट करने वाला पौधा है।[4] इसमें प्रचुर जड़ें,[5] सहस्रों एवं अनेकों गाँठें हैं।[6]

तलाशा : यह वृक्षों में श्रेष्ठ है।[7]

मधुला : यह पौधा लोगों में मधुरिमा को उत्पन्न करता है।[8] इसकी उत्पत्ति मधु से बनाई गई है।[9]

नितत्नी : इस पौधे का प्रयोग बालों को पुनः उगाने और उन्हें बढ़ाने के लिए होता है। एक मन्त्र में इसका नाम केशवर्धिनी प्राप्त होता है।[10]

पिप्पली : इसका प्रयोग विभिन्न प्रकार के घावों को भरने के लिए होता है। यह तिरस्कृत और वातरोगों की औषधि है।[11]

वरणावती : सायण इसे औषधि के रूप में स्वीकार करते हैं। इसकी समानता अमृत के साथ की गई है।[12] यह देवतुल्य औषधि यक्ष्मा को दूर करती है।[13]

---

१. यद्गु गुग्गुलु सैन्धवं यद्वावाप्यासि समुद्रियम्। (अथर्व.- ६१।३८।१)
२. वही-६।१२७
३. आशरीकं विशरीकं ... जङ्गिऽकरत। (वही-१९।३४।१०, विष्कन्धं ... ओजसा वही-१९।३४।५)
४. सहस्रं वीर्याणि ते। (वही-१९।३०।१)
५. अयं यो भूरिमूलः। (वही-६।४३।२)
६. वही-१९।३२।१
७. तलाशा वृक्षाणाभिवाहं भूया समुत्तमः। (वही-५।१५।३)
८. मधुन्मे मधुलाकश। (वही-५।१५।१)
९. इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधुः। (वही-१।३४।१)
१०. यां जमदग्नि ... आभरदसी तस्य गृहेभ्तः। (वही-६।१३७।१)
११. पिप्पली क्षिप्रभेषज्य ... क्षिप्रस्य भेषजीम। (वही-६।१०९।१, ३)
१२. तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्। (वही-३।७।१)
१३. वरुणो वारयता ... देवा अवीवरन्। (वही-६।८५।१)

सोम : इसे औषधि का राजा माना जाता है।[1] इसके द्वारा ज्वर भी नष्ट हो जाता है।[2]

इसी प्रकार अन्यान्य औषधियों में हरिद्रा[3], सदम्पुष्पा[4] और शङ्खपुष्पिका आदि हैं।

भैषज शास्त्र से सम्बन्धित सूक्त और उनका विनियोग

१. सभी रोगों की शान्ति के लिए : २।३३, २।६, ४।२८, ४।१३, १।३१, ५।६, ३०, ६।२६, ८५, ६।८।

२. आयुष्य के लिए : १।३०, ३५, २।६, १३, २८, २६, ३।११, ५।३०, ६।४१, ७।५३, ८।२

३. तक्मन : १।२५, ५।२२, ७।११६, ६।२० **तृष्णा** - २।६, **क्षिप्र** - ६।१०६ **क्षेत्रिय** - २।८, १०, ३।७ **अपचित** - ६।२५, ५७, ८३, ७४, ७६ मन्त्र - १-२ **अक्षिरोग** - ६।१६, **आस्राव** - १।२, २।३,६, ४४ **कलास** - १।२३, २४ **कास** - ६।१०५, ग्राही - ६।११२, ११३, सम्भवतः **जलोदर** - १।१०, ७।८३ ६।२२, ४।६६, **शीर्षक्ति** - १।१२, **रुधिरस्राव** - १।१२७, १७६, ६।८, १।१२ ४।४, **हरिमा** - १।२२ **विष्कन्धा** - २।४, ३।६ बलास - ६।१४, २६ **पक्षघात** - ६।८०, **शूल** - ६।६०, **उन्माद** - ६।१११, **जायान्य** - ७।७६ **श्लेष्मा** - १।१२, १३, ६।१०५

४. पौधों से सम्बन्धित : आञ्जन - ४।६, १६, ४४, ४५; शतवार - १६।३६; कुष्ठ - ५।४, ५।१५, १६।३६; अरुन्धती - ५।५, १६।३८; पृश्निर्णी - २।२५; ओषधय - ८।७; जङ्गिड - १६।३४, ३५; वनस्पतय - ६।६१; निनत्नी - ६।१०३; पिप्पली - ६।१०६; रोहणी- ४।१२

५. विष को दूर करने के लिये : ४।६, ७, ५।१३, ६।१२, २८, ५६, ६०, ६३, १००, ७।५६, ८८, १०।४

६. जल द्वारा रोग निवारण : १।४, ५, ६।३३, ६।२३, २४, ५१

७. कीटाणु सम्बन्धी : २।३१, ३२, ४।३७, ५।३२, ६।५०

८. शरीर विज्ञान सम्बन्धी : २।३३, १०।२

६. केशवर्धनी के लिए : ६।२१, ३०, १३७

---

१. सोमो वीरुधामधिपतिः स भावतु। (वही-५।१४।७)
२. तक्मानमपबाधितः सामोग्रावावरुणः। (अथर्व., ५।१।१)
३. वही,११४।१
४. वही,७।६८।५

१०. सूर्य-किरणों से रोग निवारण : ६।५२

११. गर्भ-संरक्षा : ८।६

१२. वाजीकरण : ४।४, ६।७२ ६२, १०१, ७।६०

ज्योतिर्विज्ञान

ज्योतिर्विज्ञान का भी शुभारम्भ अथर्व-साहित्य से ही हुआ है। दो सूक्तों में ज्योतिष विद्या के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है।[१]

नक्षत्र : नक्षत्र शब्द अथर्ववेद में तारे के आशय में लगभग २० स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है।[२] एक मन्त्र में सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों का एक साथ ही उल्लेख हुआ है।[३] नक्षत्रों को ब्रह्म में समाहित कहा गया है।[४]

चान्द्र नक्षत्र : चन्द्रमा का नक्षत्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया गया है। चन्द्रमा नक्षत्रों का राजा है।[५] चन्द्रमा नक्षत्रों के केन्द्र में रहने वाले रूप में वर्णित है।[६]

नक्षत्रों की संख्या : अथर्ववेद में नक्षत्रों की संख्या २८ दी गई है।[७] यजुर्वेद की तैत्तिरीय[८] और काठक[९] संहिताओं में इनकी संख्या बीस है। मैत्रायणी[१०] में यह संख्या २८ है। विदेशी साक्ष्यों से भी २८ नक्षत्रों की पुष्टि होती है।[११] चीन के सिऊ और अरब के मनाजिल की संख्या २८ ही है।[१२]

नक्षत्रों के नाम : विवाहसूक्त के एक मन्त्र में दो नक्षत्रों का उल्लेख है।[१३] मघा नक्षत्र के

---

१. अथर्व. - १६।७-८
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ. ४५१
३. अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। (वही-६।१२८।३)
४. ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं। (वही-१०।२।२३)
५. चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स भावतु। (वही-५।२४।१०), ६।८६।२)
६. वही-१४।१।२, अथर्ववेद के सूत्र-ग्रिफिथ - पृ. १६०
७. अष्टाविंशानि शिवानि शम्मानि सह योगं भजन्तु मे। (अथर्व. - १६।८।२)
८. वही-४।४।१०, तै. सं. - १-६
९. काठक सं. -३।६।१३
१०. मैत्रायणी संहिता - २।१३।२०
११. ज. आ. अ. ओ. सो. भाग ८, पृ. ३६०-३६१
१२. ओ. ए. लि. सं. २, ४०६-४११
१३. मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते। (अथर्व-१४।१।१३), अथर्व. का अनु. ७४२

अन्तर्गत गायों के वध किये जाने का वर्णन है। फाल्गुनी नक्षत्र के अन्तर्गत विवाह कार्य सम्पन्न किये जाने का सङ्केत दृष्टिगोचर होता है। ज्येष्ठघ्नी तथा विवृतों का उल्लेख है।[1] अन्यत्र रेवती तथा कृत्तिका का उल्लेख प्राप्त है।[2] १९वें काण्ड के सूक्त ७-८ में २८ नक्षत्रों की तालिका इस प्रकार है।[3] :

१. कृत्तिकायें	१०. हस्त	१९. अभिचित्
२. रोहणी	११. चित्रा	२०. श्रवण
३. मृगशिरस	१२. स्वाति	२१. श्रविष्ठायें
४. आर्द्रा	१३. विशाखे	२२. शतभिषज्
५. पुनर्वसु	१४. अनुराधा	२३. द्वया श्रौष्ठपदा
६. पुष्य	१५. ज्येष्ठा	२४. रेवती
७. आश्लेषायें	१६. मूल	२५. अश्वयुजी
८. मघायें	१७. पूर्वा आषाढाएँ	२६. भरण्य
९. पूर्वा फाल्गुन्यो	१८. उत्तरा आषाढाएँ	

१. कृत्तिकाएँ : इसका दो स्थानों पर उल्लेख हुआ है। कृत्तिका शब्द कृत धातु से बना है। इसका अर्थ शायद जाल है। इस नक्षत्र समूह के अन्तर्गत सात तारे हैं जिनमें अभ्रयन्ती, मेघनन्ती और वर्णयन्ती भी है। इनका सम्बन्ध वर्षा से है।

२. रोहिणी : नक्षत्रों की नामावली में रोहिणी का भी स्थान है।[4] यह रक्त वर्ण का तारा है।

३. मृगशिरस : इसका उल्लेख एक ही बार हुआ है।[5] यह मन्द ज्योति वाला तारकपुञ्ज प्रतीत होता है। व्हिटने का मत है कि मलिन प्रकाश के कारण ही अथर्ववेद के शान्तिकल्प में इसे अन्धकार कहा गया है।[6]

४. आर्द्रा : एक उज्ज्वल तारे का नाम है।

---

१. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्। (वही-६।११०।२)
२. रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा धर्मेम वहः। (वही-६।७।३)
३. अथर्व. पूर्वार्द्ध - ६।७।३, सुबहमग्ने कृत्तिका १९।७।२
४. तै. सं., ४।४।५।१; काठक सं. - ४०।४; तै. ब्रा. , ३।१।४।१
५. अथर्व. , १९।२७।२
६. ओ. ए. लि. स्टडीज सं. भाग २, पृ. ४०१

५. पुनर्वसु : यह मिथुन राशि के तारे का द्योतक है। पुनर्वसु का अर्थ होता है, जिन्होंने फिर से सम्पत्ति प्राप्त की।[१]

६. पुष्य : यह कर्क के शरीर में स्थित कुछ मन्द प्रकाश वाले तारों के समूह का द्योतक है। इस समूह का कोई भी तारा प्रखर नहीं है।[२]

७. आश्लेषार्ये : इसका अर्थ आलिङ्गन करने वाला है। इसके अन्तर्गत कई नक्षत्र हैं।

८. मघार्ये : यह हँसिया का द्योतक है। यह शुभ नक्षत्र है।[३]

९. फाल्गुन्यो : यह युगल नक्षत्रपुञ्ज है। जिन्हें पूर्व और उत्तर के रूप में विभाजित किया गया है। ये उज्ज्वल वर्ण के हैं।

१०. हस्त : यह सम्भवतः पाँच नक्षत्रों का पुञ्ज है।

११. चित्रा : यह सूत्र तारा है।

१२. स्वाति : स्वाति का अर्थ इसी रूप में हुआ है।[४]

१३. विशाखे : यह तुला राशि के दो उज्ज्वल तारों के नाम हैं। अथर्ववेद में राधो विशाखे समृद्धि है।

१४. अनुराधा : यह समृद्धिदायक नक्षत्र है।

१५. ज्येष्ठघ्नी : वृश्चिक का केन्द्रीय तारा है।

१६. विवृतौ : दो मुक्त करने वाले।

१७. मूलबर्हण : मूल या उन्मूलन। ये तारे अशुभ माने गये हैं।

१८. आषाढार्ये : ये दो तारों के समूह हैं। पूर्वा और उत्तरा।

१९. अभिजित : यह प्रकाशमान तारा है।

२०. श्रवण : यह उज्जवल तारा है।

२१. श्रविष्ठार्ये : सर्वाधिक सम्पन्न एक हीरे के आकार का नक्षत्र पुञ्ज है।

२२. शतभिषज : इसके चतुर्दिक स्थित तारों की संख्या अनुमानतः सौ है।[५]

२३. प्रष्ठिपदार्ये : बाद के भद्रपदाओं का द्योतक है।

२४. रेवती : इसका अर्थ सम्पन्न है। यह बहुसंख्यक तारों के पुञ्ज का नाम है।

२५. अश्वयुजी : यह दो अश्वों को सम्बद्ध करने वाला मेष राशि के दो तारों का द्योतक है। इसके बाद के नाम अश्विन्धौ और अश्विनी है।

---

१. ओ. ए. लि. स्टडीज, भाग २, पृ. ४०३
२. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ. ४६८
३. वही
४. स्वाति सुखी मे अस्तु। (अथर्व. १९।७।३)
५. वैदिक इण्डेक्स भाग १, पृ. ४७१

२६. भरण्य - एक छोटे से त्रिभुज के आकार का नक्षत्र है।[1]

शरीर विज्ञान

एक सूक्त में मनुष्य के विभिन्न अस्थि संस्थानों का वर्णन है।[2] इसी प्रकार एक सूक्त में प्रमुख अङ्गों का सन्दर्भ है।[3] उक्त परम्परा में नाड़ी-ज्ञान का आविष्कार भी प्रतिपादित हुआ है। अनेक स्थलों पर गवीनिका नामक नाड़ी का उल्लेख विशेष रूप से प्राप्त होता है।[4] सायण ने इसे योनि के समीप रहने वाली नाड़ी कहा है।[5] एक मन्त्र में वर्णित 'अष्टौ मन्यः' को सायण ने गर्दन की आठ नसों के रूप में माना है।[6] एक स्थान पर सैकड़ों धमनियों और हजारों शिराओं का प्रसङ्ग प्राप्त होता है।[7] प्राण की संख्या सात कही गई है।[8] कीथ महोदय सात प्राणों में आँख, कान, नाक और जिह्वा आदि इन्द्रियों को भी मानते हैं।[9] प्राण के साथ अपान, व्यान, उदान और समान शब्द भी मिलते हैं।[10] प्राण आत्मा का बौद्धिक रूप है, जो कई स्थलों पर बाह्य सत्ता से भी समीकृत किया गया है।[11]

रसायन विज्ञान

डॉ. प्रफुल्लचन्द राय के अनुसार अथर्व साहित्य के आयुधानि सूक्तों से रसायन की उत्पत्ति हुई। उन्होंने तीन सूक्तों से उद्धरण दिये हैं।[12] एक सूक्त[13] में नाना दुःखों से मुक्ति के लिए शङ्खमणि, दूसरे सूक्त में दीर्घायुष्य प्राप्ति के लिए हिरण्यमणि[14] और तीसरे सूक्त में दानवों को भगाने वाली सीस मणि का उल्लेख है।[15]

इस संहिता में सात स्थानों में रस औषधियों से निकले हुए तरल पदार्थ के रूप

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग-१, पृ. ४७१
२. अथर्ववेद, १०।२, पृ. १७०-१७१
३. अक्षीभ्यां ते ... कीकसाम्यो अनुदयात्। (वही-२।३३।१-२)
४. वही,१।३।६
५. गवीनिका योनः ... नाड्यौ। (वही-१।३।६)
६. वही,२।१२।७
७. शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम!। (वही-१।१७।३)
८. सप्त प्राणान्। (वही-२।१२।७)
९. ए. बी. फिलॉसफी ऑफ द वेद, भाग ३२, पृ. ३५३
१०. प्राणापानौ ब्रीहियवा। (वही-११।४।१३, १६।५१।१)
११. वही-११।४।१५
१२. हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमेस्ट्री, भाग २, पृ. ६-७, भूमिका भाग
१३. देवानां अस्थिकृशनं ... त्वाभि रक्षतु। (वही-४।१०।७ अथर्व.)
१४. आयुषे त्वा ... विभासासि जनां अनु। (वही-१६।२६।३)
१५. सीसायाध्याह ... याचुवातनम्। (वही-१।१६।२)

में वर्णित है।[1] अथर्व साहित्य रसायन विज्ञान और आयुर्वेद के पाठकों के लिए बहुत ही रोचक है क्योंकि यही इन विषयों की सूचना का प्राचीनतम भण्डार है।[2]

भौतिक विज्ञान

अथर्व-साहित्य में भौतिक विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री भी प्राप्त होती है। अथर्ववेद के एक सूक्त में लाक्षा का वर्णन है। जिसमें लाक्षा उत्पन्न करने का श्रेय सिलाची नामक कीट को दिया गया है। सिलाची लाक्षा का पिता है और उसका रङ्ग भूरा है।[3] यह कीट पीपल, खैरा और न्याग्रोघ आदि वृक्षों पर चढ़कर लाख उत्पन्न करता है।[4] लाक्षा के स्त्री कीड़े के गर्भ भाग को पीतवर्ण होने के कारण उसे हिरण्यवर्ण और सूर्यवर्ण कहा गया है।[5] इसके शरीर के ऊपर रोएँ अधिक होते हैं। अतः इसे "लोमश वक्षणा" कहा गया है।[6] उड़ने वाले सरा को पतत्रिणी[7] और पौधे पर रेंगने वाले को स्परणी कहा गया है।[8] वर्तमान समय में राँची में लाक्षा के उत्पादन तथा व्यवहारिक उपयोग के विषय में राजकीय संस्था कार्य कर रही है।[9]

गणित विज्ञान

अथर्ववेद में स्थान-स्थान पर गणना का उपयोग हुआ है।

एक - ४।२।२, ६।३६।३, ८।४।३

एकादश - १६।२७।११, १६।२३।८, ५।१६।११

एकोनविंशति - १६।२३।१६

एकशतम् - ३।६।६, ५।१८।१२, ७।१२०।३

द्विः - ५।२३

द्वितीयः - १३।५।३, १५।१५।४

द्वादशः - ४।१।११, १०।८।४, ११।८।२२

त्रिशत - ५।२।३, ८।३।११, १२।२।१६

---

१. अथर्व., २।४।५, २।२६।१, ३।१३।५, ४।४।५, ४।१७।१, ६।१६।१, ६।४।५
२. राय, पृ.-७, भूमिका भाग
३. सिलाची नाम कानीनो जवभ्रू पिता तव। (अथर्व., ५।५।८)
४. भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात्। (वही-५।५।५)
५. हिरण्येवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे। (वही-५।५।६)
६. लोमश व क्षाणी - (वही-५।५।७)
७. सरा पतत्रिणीभूत्वा सा न एह्यरुन्धती।
८. जयन्ती प्रत्या तिष्ठन्तौ स्परणी नाम वा असि।
९. इण्टरनेशनल एकेडमी ऑफ इण्डियन कल्चर, डॉ. हीरा; जर्नल ऑफ एशियाटिक सो. आ., (भाग-८, पृ. १३-१५)

त्रयोदश - १६।२३।१०

चतस्त्र - २।६।१, ३।२२।५, ५।३।१

चतुः - ११।२।६

चत्वार - १।३१।२, १६।४७।४, ८।२।२१, ६।१५।२७, १४।१।६०

चतुर्दश - १६।२३।११

चत्वारिशंत् - ५।१५।४, १६।४७।४

चतुर्थ - १४।५।२, १५।१३।७

पञ्च - ५।१५।५

पञ्चदश - ११।१।१६

पञ्चाशत् - ५।१५।५, ६।२५।१, १६।४७।४

षट् - ४।११।१, ५।३।३, ८।६।७

षट् सहस्रा - ११।५।२

षष्टि - ५।१५।६, १०।८।४, १६।४७।४

षोडश - १६।२३।१४, ११।६।११

सप्तम - २।१२।७, ४।३।२, १६।२३।१४, ५।१५।७, ६।२५।२, १४।४७।३

अष्ट - १६।२३।५, १३।५।५, १६।२३।१५

नव - १६।२३।६, ५।१४।४, ६।२५।३, १६।४७।३, १३।५।५

दशम - ५।१४।१०, १३।५।५

दशशताः - ५।१८।१०

शतम् - २।१०।२, २।३।२

शतानि - २०।१२७।२

सहस्रम् - १।१०।२, २।६।३

अयुतः - १६।५।१।१

अयुतम् - ८।२।२१, १०।८।२४

अयुत दस हजार के बराबर होता है।

अर्बुदस्य - २०।६१।१२

मूल अथर्व-सिद्धान्तों में संख्या का प्रचलन एक से सहस्र पर्यन्त तक हो चुका होगा। संख्यावाची शब्दों का सूत्रपात स्पष्ट शब्दों में उक्त परम्परा के अन्तर्गत किया जा चुका है। एक स्थान पर मात्रा शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय कोई नाप विशेष ज्ञात होता है।

इस प्रकार अथर्वाङ्गिरस परम्परा के अन्तर्गत अन्यान्य विषयों के साथ ही जीवन से सम्बन्धित वैज्ञानिक पहलुओं पर भी पर्याप्त विचार किया गया है। वास्तव में हमारी वर्तमान चिकित्सा प्रणाली, नक्षत्र विज्ञान, शरीर के अन्तर्गत अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा नाड़ी विज्ञान, जङ्गली औषधियों, पेड़-पौधे तथा उनके गुण-दोष जो कुछ भी वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये सभी अथर्वाङ्गिरस-परम्परा पर ही अवलम्बित हैं।

अष्टम अध्याय

साहित्यिक-तत्त्वों का अनुशीलन

पूर्व अध्यायों में क्रमशः राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक मूल्यों की प्रस्थापना विशिष्ट रूप से प्रतिपादित की गयी है। साथ ही इस परम्परा के अन्तर्गत गहन तथा चिन्तनीय मान्यताओं के स्रोतों का भी अन्वेषण किया गया है। वैदिक मन्त्रों के दृष्टा ऋषि होते हैं और एक विवेचन के आधार पर वैदिक वाङ्मय में ऋषि एवं कवि के एक ही जैसे स्वरूप के होने की विचारधारा प्रस्थापित हुई है। जहाँ ऋषि अपने ज्ञान नेत्रों द्वारा मन्त्रों का साक्षात्कार करता है, वहीं कवि भी अपनी अद्भुत ज्ञानमय कल्पना शक्ति के द्वारा उन विशिष्टतम काव्याञ्जलियों को निर्मित करता है। इस परम्परा के प्रमुख एवं आदि कवि अथर्वा को कवि के रूप में सम्पादित किया गया है।[1]

परवर्ती साहित्यशास्त्र में विचारकों ने साहित्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में रस को ही स्वीकार किया है। इसका सूत्रपात प्रथमतः अथर्व-सिद्धान्तों के द्वारा ही हुआ है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने अपने नाटकीय तत्त्वों को क्रमशः चारों वेदों से ही ग्रहण किया है। ...न्होंने ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस को ...कर नांट्यवेद का निर्माण किया।[2] अथर्ववेद में ऋत्विक के प्रशम और कम्प आदि अनुभावों, ...ा के शुभचिन्तन तथा शत्रु के मारण आदि के द्वारा प्रजा और शत्रु रूप आलम्बन विभावों ...ा एवं धृति, प्रमोद आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से रसात्मक आस्वाद की उत्पत्ति हो सकती है।

रस विवेचन

कविता कवि के भावों की अभिव्यक्ति है। सभी कवियों ने अपने भावों को काव्यात्मक भाषा में चित्रित किया है।

रतिभाव का चित्रण : अथर्ववेद में रतिभाव का साङ्गोपाङ्ग चित्रण उपस्थापित हुआ है। ऋषियों ने इस भाव के अधिष्ठातृदेव की कल्पना स्मर या काम के रूप में की है। इस सम्बन्ध में षष्ठ काण्ड के तीनों स्मर सूक्त तथा नवें काण्ड का द्वितीय सूक्त और १९वें काण्ड का ५२वाँ सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उत्साह : अथर्ववेद के अन्तर्गत मन्युसूक्त में सह या सोत्साह भाव की कल्पना की गई है।[3]

---

१. वक्र केन नु ... जातवेदा। (अथर्व., ५।११।२)
२. जग्राह पाठ्यमृग्वेदा ... ब्रह्मणा ललितात्मकः। (नाट्यशा., १।१७-१८)
३. त्वं हि मन्यो ... स्वोजः पृतना सुधेहि। (अथर्व., ४।३२।५, ४।३१।६)

उत्साह की अविच्छिन्नता के सम्बन्ध में यहीं वर्णित दुन्दुभिसूक्त भी दर्शनीय है।[1]

क्रोध : मन्यु क्रोध का ही अभिमानी देवता है। अतः उस देव का यत्र-तत्र ऐसा वर्णन है जिसमें क्रोध का स्पष्ट आभास दिखाई पड़ता है।[2] ऋषि ने मन्यु के शत्रुघर्षणकारी[3] स्वरूप का चित्रण किया है।

भय : इसका चित्रण पर्जन्यसूक्त की कतिपय ऋचाओं में किया गया है।[4]

रस से सम्बन्धित इन समस्त अङ्गों के दिग्दर्शन से रस रूपी काव्य के प्राणभूत तत्त्व का उद्‌भव अथर्ववेद ही सिद्ध होता है।

अथर्व-साहित्य में शब्द विच्छित्तियाँ

इस वेद के अन्तर्गत शब्द विच्छित्तियों का भी पर्याप्त विवेचन किया गया है, जिसके विभिन्न प्रकारों का चित्रण है।

मधुर ध्वनि : औषधियों में तदभिमानी देवता की प्राणप्रतिष्ठा कर ऋषियों ने उनकी स्तुति में वर्णविन्यास की मधुर ध्वनि की अनूठी व्यञ्जना की है।[5] इसी प्रकार मधुकशा सूक्त में प्रथम दस मन्त्रों तक मधुकशा का गौ रूप वर्णित है।[6] अथर्ववेद में अन्यत्र इस मधुमती वाणी का उल्लेख है।[7] इस वेद के काव्य में "म" वर्ण के विन्यास के साथ "स, ल तथा न्द" की आवृत्ति में भी ध्वनिमाधुरी का आस्वाद होता है। इन्द्र स्तुति के प्रसङ्ग में इस ध्वनि का प्रदर्शन है।[8] अथर्ववेदीय कवि के काव्य में दुःश्रवत्य दोष दृष्टिगोचार नहीं होता। इसकी मनोहारी झलक हमें स्थान-स्थान पर दिखाई देती है।[9] इन मन्त्रों में वर्ण-सङ्गति दर्शनीय है। कहीं भी समस्त पदावली नहीं है।

कठोर ध्वनि : विषय के अनुरूप कठोर ध्वनि का भी चित्रण साङ्गोपाङ्ग रूप से हुआ है।

---

१. अथर्व. - ५।२०।१
२. अग्निरिव मन्यो ... विमृधो नुदस्व। (वही-४।३१।२)
३. अर्गाहि मन्यो ... नयासा एकज त्वम्। (वही,४।३२।३, ४।३१।३)
४. समुत्पतन्तु प्रदिशो ... सं यन्तु पृथिवीमनु। (वही-४।१५।१, ७, ८)
५. मधुमन्ये निक्रमणं ... शाखां मधुमतीमिव। (वही-१।३४।३।४)
६. यथा मधु मधुकृतः ... बलभोजश्च ध्रियताम्। (वही-६।१।१६,१७)
७. जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वक्तुं शान्तिवाम्। (वही-३।३०।२)
वाचा वदामि मधुमत। (वही-१।३४।३)
८. आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूर रोमभिः। (वही-७।११७।१)
९. स्वादोः स्वादयिः मधुनाभि योधीः। (वही-५।२।३)
अविच्छिन्नं तन्तुमनु ... तरन्ति। (वही-६।१२२।१,२)

उद्धरण में क्रिमियों के विनाश की सूचना है। यहाँ भी "ष्ट" या ऋकार की कठोर ध्वनि उस विनाश के भाव की व्यञ्जक हैं।[१] क्रिमियों के 'अलगण्ड' आदि नाम भी इसी भाव के व्यञ्जक हैं। जो देवता अपनी कठोरता या शक्तिमत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं उनकी स्तुति में भी ऐसी शब्द योजना की गई है।[२]

अर्थसंवादी ध्वनियाँ : अथर्ववेद के कवियों ने एक ओर जहाँ अर्थानुसारी वर्णध्वनि की छटा दिखलाई है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जो स्वयं एक विशिष्ट ध्वनि के प्रतीक हैं। विभिन्न प्राकृतिक पदार्थों से उत्पन्न पृथक-पृथक ध्वनियों को उन्होने शब्द का मूर्त्तरूप दिया। तीव्र गति से बहती हुई नदियों, चलती हुई वायु तथा उड़ते हुए पक्षियों की ध्वनि से प्राचीन ऋषियों का चित्त आकृष्ट हो जाता था।[३] वर्षाकालीन मेघों की ध्वनि भी उन्हें विशेष प्रिय लगती थी। फलतः उन्होंने उसे पर्जन्य सूक्त की ऋचा द्वारा व्यक्त किया।[४] किसी वस्तु के गिरने से जो शब्द होता है, उसे भी ऋषियों ने सुना था और उसी ध्वनि के साथ शत्रुओं के स्थानभ्रष्ट होने की अग्नि से कामना की थी।[५] कुछ ऐसी ध्वनियों का भी श्रवण किया जो वर्तमान में सुनाई नहीं देतीं और जिनसे हम पूर्णतः अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार की ध्वनियों में "उलुलु" एक ध्वनि है जो जयघोष के लिए प्रयुक्त हुई है।[६] इन विभिन्न अनुकरणमूलक ध्वनियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अथर्ववेदीय कवि ध्वनि सौन्दर्य के प्रेमी थे।

अथर्व-सिद्धान्तों में निर्दिष्ट समानान्तर ध्वन्यात्मक शब्द

अथर्व-सिद्धान्तों में प्रतिपादित काव्य साक्ष्यों के अन्तर्गत एक ओर वर्णविन्यास स्फुट रूप में दृष्टिगत होता है। अथर्ववेद के कवि द्वारा उपनयन के पश्चात् माणवक के दीर्घायुष्य की कामना करते हुए जहाँ यह कहा गया है कि "प्राणेन प्राणताम्" इन दो शब्दों की समान ध्वनि अपनी विच्छित्ति से हमें आकृष्ट कर लेती हैं।[७] सर्वत्र

---

१. दृष्टमदृष्टमतृहमथो ... क्रिमीन वचसा जम्भयामसि। (वही-२।३१।२)
२. अदप्ययासुर्भ्राजमानो ... दाधार त्रीणि। (वही-५।१।१)
३. सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः संपतत्रिणः। (वही,१।१५।१)
४. श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणावनीचीरपः सृज। (वही,४।१५।१२)
५. वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः। (वही-३।२।२)
६. प्रधग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। (वही-३।१०।६)
इतो जयेतो विजय सञ्जय जय स्वाहा। (वही-८।८।२४)
७. प्राणेन प्राणतां प्राणे हैव भव मा मृथाः। (वही-३।३१।६)

'सविता साविषयत', 'मृडत मड्या'[1] निमाति मायु, पयते पयोभिः[2] इन समान ध्वनि वर्णों का सौन्दर्य दर्शनीय है। इस परम्परा का परवर्ती साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।[3] लौकिक संस्कृत साहित्य में जिन वर्ण विन्यासों की कल्पना की गई है उनके स्रोत मूलतः अथर्ववेद में विद्यमान हैं।

वर्ण सङ्गीत : अथर्ववेद की शब्द विच्छित अपनी सङ्गीतात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। कहीं-कहीं ऋषियों का वर्णविन्यास इस प्रकार का है कि इससे सङ्गीत की सृष्टि होती हुई प्रतीत होती है। अथर्ववेद के ऋषि सङ्गीत प्रेमी थे। इसकी सूचना हमें पर्जन्यसूक्त[4] के चतुर्थ मन्त्रसूक्ति द्वारा प्राप्त हो जाती है। अथर्ववेद के सङ्गीतप्रेमी ऋषियों ने एक ही वर्ण की असकृत आवृत्ति न करके बीच-बीच में दूसरे वर्णों की भी आवृत्ति की है और इस प्रकार मन्त्र में वर्ण सङ्गीत की सृष्टि की है। एक मन्त्र में प्रमाण उपलब्ध होता है।[5] यहाँ प्रथमतः "ज" की आवृत्ति, पुनः "ध" की तत्पश्चात् "न" और अन्त में "ए" की सब मिलकर एक प्रकार से वर्ण सङ्गीत की सृष्टि करती है। कोमल और कठोर ध्वनियों के योग से वर्णसङ्गीत की सृष्टि का रूप परिलक्षित होता है।[6] इन प्रमाणों को संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत तुलनात्मक दृष्टि से देखा जा सकता है।[7]

अथर्ववेद में एक या दो वर्णों की आवृत्ति का ध्वनि-सौन्दर्य : अथर्ववेद में एक वर्ण की आवृत्ति प्रायः अनेक मन्त्रों में दृष्टव्य है। एक स्थल पर प्राप्त प्रमाण में पार करने के भाव को "तरेम तन्वा वयम्[8] में तकार की आवृत्ति द्वारा ध्वनित किया गया है। अन्य प्रसङ्ग में गङ्गादि नदियों के हिमालय से निकलने तथा समुद्र में मिलने के भाव को "सिन्धौ समह

---

१. सुषूदत मृडत मड्या नस्तनूभ्यो मयस्तो केभ्यस्कृधि। (अथर्व., १।२६।४)
२. निमाति मायुं पयते पयोभिः। (वही-६।१।८)
३. रामो रमयतां वरः रावणो लोकरावणः। (श्रीमद्वाल्मी., सुन्दरका.- ५०।१)
   कामं कामः शरीरे मे यथ कामं प्रवर्ताम्। (वही-२०।६)
   रामार्थयुक्तं विरराम रामः। (वही-३६।३१)
   तस्मै सभ्याः ... नय चक्षुषे। (रघुवंशम् - १।५५)
   मा स्वामिनं ... प्रियकारिणं तम। (सौन्दरानन्दम् - ६।२२)
   मही महेन्द्रस्तमवेक्ष्य ... कुतूहलाक्रान्तमनामनागभूत। (नैषधीयचरितं - १।११६)
४. गणास्त्वोप गायन्तु ... घोषिणः प्रथक्। (पर्जन्य सूक्त - ४।१५)
५. प्रजापतिर्जनयति ... पुष्ट पतिर्दधातु। (अथर्व.- ७।१६।१)
६. पश्चात्पुरस्तादधरा ... अग्ने मतां अमर्त्यस्त्वं। (वही-८।३।२०)
७. वज्रादपि कठोराणि ... विज्ञातुमर्हति। (उत्तररामच., २।७)
८. पूर्वावृत्तपरित्याग ... नाप्यपेशलमूषिता। (वक्रोक्ति जी., २।४०)

सङ्गमः[1] में सकार की आवृत्ति द्वारा ध्वनित किया गया है। इन समस्त वर्ण-विन्यास का मनन करने से पता चलता है कि अथर्ववेद के ऋषि विषय और भाव के अनुकूल शब्द ध्वनि के विशेष पक्षपाती थे। इसी वर्ण-विन्यास विच्छित्ति का कुन्तक ने विविध प्रकार से विवेचन किया है।[2]

अथर्ववेद में एक वर्ण की पुनरावृत्ति : विषय के औचित्य को ध्यान में रखने से वर्णों की अत्यन्त आवृत्ति का दोष भी छिप जाता है। एक उद्धरण में "जकार" की अत्यधिक आवृत्ति कटु प्रतीत नहीं होती, यद्यपि इसमें एक और कारण हो सकता है इसके साथ "न" ध्वनि का साहचर्य है।[3] अज पञ्चौदन में भी जकार की अनेकशः आवृत्ति दोषयुक्त नहीं दिखाई पड़ती।[4] कहीं वर्ण-विस्तार ऋषियों का शब्दक्रीड़ा मात्र प्रतीत होता है।[5] भामह ने इस प्रकार के वर्ण-विन्यास को ग्राम्यानुप्रास की संज्ञा दी है।[6] भिन्न रुचिर्हि लोकः इस सिद्धान्त के ऋषियों ने अपनी रुचि के अनुसार ही अक्षर-विन्यास किया है। शारदातनय का यह कथन उचित है।[7]

वर्ण-योजना में श्रुति-दृष्टता : अथर्ववेद में सिनीवाली विषयक मन्त्र में श्रुति दुष्टता स्पष्टतः प्रतीत होती है।[8] इसी प्रकार परब्रह्म स्वरूप सूर्यदेव की स्तुति परक मन्त्र में भी यह दोष दृष्टिगोचर होता है।[9] अथर्ववेद में इस प्रकार के काव्यदोष बहुत कम हैं।

ध्वनि-सौन्दर्य में अन्तिम पद की आवृत्ति : अथर्ववेद में एक और प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह है अन्तिम पाद के दोहराने की प्रवृत्ति। इससे मन्त्र का लयात्मक सौन्दर्य बढ़ जाता है।[10] वर्ण-विन्यास की इन प्रवृत्तियों के द्वारा काव्य को श्रुतिसुखद और आकर्षक बनाया जा सकता है। अथर्ववेद के ऋषियों की शब्द विषयक भावना विशिष्ट रूप से परिलक्षित हुई है। यह अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है।[11] इस भावना के आधार पर ही

---

१. अहो अहोभिर्महिमा ... विभराम्वभूविरै। (नैषधीयि. - १।४१)
२. एकौ द्वौ बहवो ... वर्णविन्यास वक्रता। (वक्रोतिजीवितम् - २।१)
३. दृतं प्रत्नाञ्जनयाजातांजातानु वर्षीयसस्कृधि। (अथर्व. - ६।१३६।२)
४. अजो अग्निरजसु ... ब्रह्मणे देवमाहुः। (वही-६।५।७)
५. तांविलके वेलयानायमैलव ऐलयीत्। (वही-६।१६।३)
६. ग्राम्यानुप्रासमन्यन्तु ... कुलाकुलगलौवलः। (काव्यालङ्कार-२।६)
७. ता एवाक्षर विन्यासास्ता ... कापि सरस्वती। (भावप्रकाश, पृ. १२)
८. सिनीवालि पृथुष्टके ... देविदितिङ्द्विनः। (अथर्व.- ७।४६।१)
९. स वुड्न्यादाष्ट्र जनुपोम्यग्रं ... वि वसन्तु विप्राः। (वही-४।१।५)
१०. हिरण्यवर्णाः शुचयः ... आपः शं स्योना भवन्तु। (वही-१।३३।१-३)
११. निस्त्रो वाचा निहिता ... पपातानु घोषम्। (वही-७।४३।१)

व्याकरण शास्त्र के तत्त्व वेत्ताओं ने शब्द को ब्रह्म के रूप में स्थिर किया है।[1] दण्डी ने कहा है यदि शब्द ज्योति इस संसार को दीप्त न करती तो इसमें सर्वत्र अज्ञानान्धकार ही छाया रहता।[2]

छन्दों की उपस्थापना

छन्द एक ऐसा काव्य-अङ्ग है जिसके अभाव में काव्य स्थिर नहीं रह सकता। काव्यरूपी भवन की नींव छन्द है।

छन्द का महत्व : इसी वेद में सातों छन्दों का एक मन्त्र में क्रम से वर्णन हुआ है।[3] इन छन्दों की सप्त संख्या का उल्लेख अन्यत्र दो ग्रन्थों में भी हुआ है।[4] गायत्री, अनुष्टुप, जगती के विषय में ऋषियों ने अपने रहस्यात्मक विचार भी यत्र-तत्र व्यक्त किए हैं।[5] अथर्ववेद में जिस अनुष्टुप छन्द का शुभारम्भ हुआ है, वही आगे चलकर वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराणों तथा महाकाव्यों में विशेष रूप से प्रतिष्ठित हुआ।

सप्त छन्दों का परिचय

गायत्री : अथर्ववेद इसे वेदमाता कहकर सम्बोधित करता है। आयु, प्राण, प्रजा, धन तथा ब्रह्मवर्चस् सभी को उसके द्वारा प्राप्त होने वाला मानता है।[6] इस जाग्रति के फलस्वरूप ही अथर्ववेद के प्राण सूक्त[7] आदि में इसका प्रयोग प्राप्त होता है।

उष्णिक् : शङ्कुमती उष्णिक् अथर्ववेद में तीन स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है।[8] इसका स्वरूप गद्यात्मक स्तुतिपरक है। इन्द्र देवता की स्तुति के रूप में इसका स्वरूप देखने को मिलता है।[9]

अनुष्टुप : अथर्ववेद में इसकी संख्या सर्वाधिक है। यह अनुष्टुप लौकिक साहित्य के अनुष्टुप के अधिक सन्निकट है।[10] क्षेत्रीय रोग नाश[11], शत्रुविनाशन[12], विषनाश[13], कुष्तक्म

---

१. अनादि निधनं ब्रह्म ... प्रक्रिया जगतो यतः। (वाक्यपदीयम्-१।१)
२. इदमन्धं तमः कृत्स्नं ... न दीप्यते। (काव्यादर्श-१।४)
३. गायत्र्युष्णिगनुष्टुप ... त्रिष्टुप जगत्यै। (अथर्व.- १६।२१।१)
४. सप्त सुपर्णाः कवयो निषेदुः सप्तच्छन्दास्यनुसप्तदीक्षाः। (वही-८।६।१)
५. वही-८।६।२०, ४।३४।१, ५।२६।५, ८।१०।४
६. स्तुतामया वरदा वेदमाता ... दत्वा वृजत ब्रह्मलोकम्। (वही-१६।७१।१)
७. वही-२।१५
८. वही-७।१३१।२, १८।४।८७, १६।४४।४
९. इन्द्राय सोममृत्विजः ... जेतेशा नः स पुरुष्टतः। (वही-६।२।१-३)
१०. इयं वीरुन्मधुजाता मधुना ... भूयासं मधुसन्दृशः। (वही-१।३४।१-३)
ये त्रिषप्ताः परियन्ति ... मय्येवास्तु मयि श्रुतम्। (वही-१।१।१-३)
११. वही- २।८
१२. अथर्व.- ३।६
१३. वही-४।७

नाशन[1], कृत्यापरिहरण[2], क्रिमिजम्भन[3], प्रीति सञ्जनन[4], स्मर[5] एवं पापमोचन[6] तथा विविध वनस्पतियाँ जैसे दूर्वा[7] और इसी प्रकार अनेक विषयों से सम्बद्ध काव्य में इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

बृहती : ब्राह्मण ग्रन्थ इसे छन्दों की श्री कहते हैं।[8] इसके बृहती नाम की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए यास्काचार्य इसकी निरुक्ति इस प्रकार करते हैं।[9] इसमें तीन गायत्री पाद, तथा एक जगती पाद रहता है। अकस्मात् एक पाद में १२ अक्षरों के हो जाने से इसका नाम बृहती पड़ा। इसमें लगभग ३३६ मन्त्र उपलब्ध होते हैं। इस वेद में पश्या बृहती नामक एक छन्द पाया जाता है।[10] हम इन्द्र, पूषा, अदिति, मरुत[11], अपानपात्, सिन्धु, विष्णु तथा द्यौः आदि अनेक देवों की स्तुति इसी छन्द में पाते हैं।[12] मन्त्र १।३।५।७ में महाबृहती छन्द है तो २।४।६।८ में संस्तारपंक्ति। एक में उपमा की चारुता है, दूसरे में रूपक की।

पङ्क्ति : इसका प्रयोग अथर्ववेद में लगभग ४०१ स्थलों पर हुआ है। यही एक ऐसा छन्द है जो पाँच पादों का है। यास्कीय निरुक्ति "पंक्तिः पञ्चपदा" से सिद्ध हो जाता है कि इसमें पथ्या अक्षर तथा सतः पंक्ति आदि नवीन छन्दों का भी उल्लेख मिलता है। षष्ठ काण्ड का अष्टम सूक्त पूर्णतः इसी छन्द में हैं।[13]

त्रिष्टुप् : अथर्ववेद में त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग लगभग १५०५ बार हुआ है। दुन्दुभि सूक्त, शत्रुनाशन तथा पापमोचत आदि सूक्तों में मुख्यतः इसी छन्द का प्रयोग हुआ है। ब्रह्म अथवा आत्मा से सम्बन्धित सूक्त त्रिष्टुप छन्द में देखे जाते हैं।[14] इस वेद में सभी वेदों की अपेक्षा दार्शनिक विचार अधिक है और इनको प्रायः इसी छन्द के माध्यम से व्यक्त किया गया है।

---

१. अथर्व.,५।४
२. वही-५।१४
३. वही-५।२३
४. वही-६।८९
५. वही-६।१३०।१३१
६. वही-११।६
७. वही-६।१०६
८. अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनो ... श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वं हसः। (वही-११।६।१-४, १२)
९. श्री वै बृहती - कौषीतकि ब्रा.,२८।७; ऐतरेय ब्रा., १।५
१०. बृहती परिबर्हणात्। - निरुक्त - ७।१२
११. अथर्व., ३।१९।१, ५।७।४, ५।३१, १२, ६, ३।१, ६।४।१, ६।५७।३, ७।७३।२, ७।११७।१
१२. पातं न इन्द्रा ... पातु नो विष्णुरुत द्यौः। (वही-६।३।१)
१३. यथा वृक्षं लिबुजा ... यथा मन्त्रापगा असः। (वही-६।८।१-३)
१४. वेनस्तत् पश्चत् परमं ... यस्तानि वै स पितुपितासत्। (अथर्व.,२।१।१-२)

अतः रहस्यात्मक काव्य से भी इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस छन्द में आध्यात्मिक भावों को ऋषियों ने व्यक्त किया है।

जगती : यह सातों छन्दों का अन्तिम छन्द है, इसीलिए यास्काचार्य इसकी निरुक्ति जगतीगततमं छन्दम् कहकर करते हैं।[1] ताण्ड्य ब्राह्मण इसी आशय की पुष्टि के लिए इसे छन्दों का परमपोष्य मानता है।[2] अथर्ववेद में इस छन्द के मन्त्रों की संख्या ४५१८ है। धाता, सविता, इन्द्र, त्वष्टा तथा अदिति आदि की स्तुति इसी छन्द में की गई है।[3]

अतिजगती : जगती के ऊपर के छन्द "अतिच्छन्द" कहलाते हैं। अथर्ववेद में इन छन्दों का भी विशेष महत्त्व है क्योंकि कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति और संकृति इस वेद में पाये जाते हैं ऋग्वेद में नहीं। सभी देवताओं के विषय की योजना इसमें विद्यमान है।[4] अतिच्छन्द प्रायः गद्यात्मक प्रतीत होते हैं।

प्रगाथ : कई छन्दों के योग से निर्मित छन्द को प्रगाथ नाम दिया गया है। अथर्ववेद में बार्हत प्रगाथ और काकुम प्रगाथ बीसवें काण्ड में मिलते हैं। बार्हत प्रगाथ बृहती और सतोबृहती के योग से बनता है।[5] काकुम प्रगाथ ककुप् और सतोबृहती के योग से बनता है।[6] ये सभी प्रगाथ इन्द्र की स्तुति में हैं।[7] काकुम प्रगाथों के दृष्टा सौभरि ऋषि हैं।

छन्द और अन्त्यानुप्रास

इसमें यदि मन्त्र तुकान्त हैं तो उससे काव्य और अधिक कर्णसुखद हो जाता है। अन्त्यानुगत बाह्य सौन्दर्य हम कुछ अनुष्टुप छन्दों में देख सकते हैं।[8] वर्ण विन्यास आदि के द्वारा जब ऋचा में ध्वनि सौन्दर्य नहीं आ पाता, तब उसकी किञ्चित् पूर्ति अन्त्यानुप्रास द्वारा की जाती

---

१. निरुक्त,७।१३
२. जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा। (ताण्ड्यब्रा., २१।१०।६)
३. धाता रातिः सवितेदं ... मध्यमेष्ठा यथासानि। (अथर्व.-३।८।२)
४. सा ते काम दुहिता ... पशवो जीवनं वृणक्तु। (वही-९।२।५)
५. वही-८।८।१२, ८।१२।८, १२।८।७६
६. वही-८।१२।८, १२।८।१२, ८।६८
७. यद् घाव इन्द्रं ते ... वज्रिञ्चित्राभिरुतिभिः। (वही-२०।८१।१-२)
८. एहि जीवं त्रायमाणं ... यत्तीरमित्राणामनीकशः। (वही-४।६।१, ४।३६।६, ५।२१।६)

है। ये तुकान्त मन्त्र अनुष्टुप छन्द के अतिरिक्त अन्य में भी देखे जाते हैं।[1]

छन्द और मन्त्रों का लयात्मक सौन्दर्य : लय काव्य का एक आवश्यक अङ्ग है। यह काव्य के अतिरिक्त सङ्गीत व नृत्य आदि में भी दर्शनीय है। अनुष्टुप, पंक्ति, त्रिष्टुप आदि छन्दों में विरचित काव्य में इस लयात्मकता के दर्शन होते हैं।[2] छन्दों के साथ मन्त्रों के लय का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

गद्यात्मक मन्त्रों में छन्द-योजना : वैदिक छन्दों का क्षेत्र लौकिक छन्दों की अपेक्षा अत्यन्त व्यापक है। यहाँ समस्त अक्षर राशि छन्दोमय है। अथर्ववेद के गद्यांशों में भी छन्द-योजना पाई जाती है। ये गद्यात्मक सूक्त व मन्त्र इस प्रकार हैं।

२।११।१६-२४, ३।२६,२७।२९, ५।६।४-१४, ९,१०,१४।८, २६, २१, ४।३९।१-८, ६।१०, १६।४, ४४।३, ४६।१, २, ४८।७९।३, ८३।४ ९९।३, १२३।३, ४, १३९।२, ७।८१।४-५, ८८-८९।४, ९७, ९८, ८।१।१४, ८।२२-२४, १०।६, ९।१।१४, २१-२४, २।१३, ३।२५-३१, ५।१६, २०, २२, २३, ३० आदि हैं।

इन गद्यात्मक मन्त्रों में कुछ को छोड़कर शेष सभी विकृत छन्द हैं।

अलङ्कार

अलङ्कारों के स्रोत : किसी भी काव्य के लिए अलङ्कार को परमावश्यक माना गया है। ये मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं– शब्दालङ्कार एवं अर्थालङ्कार।

शब्दालङ्कार : शब्द काव्य का प्रधान उपकरण है। अथर्ववेद के ऋषियों ने मधुमती वाणी का उल्लेख[3] कर सम्भवतः इस दिशा की ओर सङ्केत कर दिया है। वेदकाव्य में भी शब्दालङ्कारों का महत्त्व स्थापित हो जाता है। काव्य की वर्णवृत्ति आदि में जो चारुता दिखाई पड़ती है, उसे ही आलङ्कारिकों ने शब्दालङ्कारों का रूप दिया है।

अनुप्रास : पदावृत्ति वेदकाव्य की विशेषता है। इससे मन्त्र का लयात्मक सौन्दर्य बढ़ जाता है। वर्णावृत्ति में छेक्, वृत्त्यानुप्रास आदि व यमक की तथा पदावृत्ति में लाटानुप्रास की चारुता देखी जाती है। छेकादि अनुप्रासों की सुन्दरता मन्त्रकाव्य

---

१. समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः ... पृथवी तर्पयन्तु। (अथर्व., ४।१५।१)
   ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु ... पृतना जयेम। (वही-५।३।१)
२. नमस्ते अस्तु ... रडाशे अस्यसि। (वही,१।१३।१)
   अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं ... सवितारं च वाजिनम्। (वही,३।२०।७)
   यथा वातो मनो यथा पतन्ति पक्षिणः। (वही-१।११।६)
   इन्द्रवायु उभाक्ति दानकामश्च नोभुवत् (वही-३।२०।६)
३. वाचां वदामि मधुमत। (वही-१।३४।३)

में दर्शनीय है।[१] वर्णों की आवृत्ति द्वारा श्रुति मधुर ध्वनि उत्पन्न की गई है जो विषय के औचित्य को बढ़ा देती है। परुषावृत्ति में भी श्रुति-कठोर ध्वनि सुनी जाती है। यह अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों में उद्धृत हैं।[२] कोमलावृत्ति में वर्णों की आवृत्ति वाले शब्दों का संगुम्फन है, जिनके श्रवण मात्र से अर्थ प्रतीति हो जाती है।[३] छेकानुप्रास प्रायः सर्वरचना सुलभ होता है क्योंकि उसमें एक या अनेक वर्णों की सकृत आवृत्ति ही अपेक्षित रहती है।[४] अथर्ववेद के मन्त्र काव्य में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी दर्शनीय है।[५]

यमक : समान श्रुति वाले परन्तु भिन्नार्थक वर्णों की आवृत्ति ही यमक का वास्तविक स्वरूप है। यह आवृत्ति कई प्रकार की हो सकती है। यह अलङ्कार भी प्रायः छन्दोबद्ध काव्यबन्ध में देखा जाता है।[६] कहीं-कहीं अथर्ववेद की कविता में भिन्नवर्णता भी दृष्टिगोचर नहीं होती।[७] इस वेद के वर्ण-विन्यास में चित्रालङ्कार का पूर्णतः अभाव है क्योंकि इससे किसी भाव आदि की व्यञ्जना नहीं होती।

---

१. विमन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः। (अथर्व., १।२१।३)
तेनोदनेनाति तराणि मृत्युम्। (वही-४।३५।१)
येनातरन् भूतकृतो तिमृत्युं। यन्मवविन्दन् तपसा श्रमेण। (वही-४।३५।२)
ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति। (वही-६।१२२।२)

२. मर्माणि ते वर्मणा छादयामि। (वही-७।११८।१)
मन्वे वां ... द्रुहवणो यो नुदेथे। (वही-४।२६।१)

३. आशामासां वि द्योततां वाता वान्तु दिशो दिशः। (वही-४।१५।८)
न भूमिं वातो क्षति वाति नाति पश्यति कश्चन। (वही-४।५।२)
एको बहूनामसि ... युद्धाय सं शिशाधि। (वही-४।३१।४)

४. एषा ते राजन् कन्या वधूर्निधूयतां यम। (वही-१।१४।२)
संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि। (वही-१।३५।४)
सं दिव्येन दीदिहि ... प्रदिशश्चतस्रः। (वही-२।६।१)
एकाष्टका तपसा ... महिमानमिन्द्रम्। (वही-३।१०।१२)
तस्य मृत्युश्चरति ... राज्यमनु मन्यतामिदम्। (वही-४।८।१)

५. सं वो मनांसि सं व्रता ... वः सं नमयामसि। (वही-३।८।५)
विं ते मदं ... वचसा स्थापयामसि। (वही-४।७।४)
ममाग्ने वर्चो विहवेएवस्तु ... पृतना जयेम्। (वही-५।३।१, ६।६०।३, ६।१२४।१)

६. प्रायश्छन्दांसि विषयोऽस्य। (काव्यालङ्कार - ३।१)

७. सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः। (अथर्व.,११।१०।२४)
अधशंसदुः शंसाभ्यां करेणानुकरेण च। (वही-१२।२।२)

इस प्रकार अथर्ववेदीय कवियों के वर्णविन्यास में अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों की छटा देखी जाती है।

अर्थालङ्कार : अर्थालङ्कारों में अर्थगत चारुता का दर्शन होता है। ये निम्न हैं :

उपमा : अर्थालङ्कारों में उपमा अग्रगण्य है क्योंकि अन्य सभी अलङ्कार इसी के प्रपञ्च में समाहित हो जाते हैं।

'इव' वाचक उपमा : अथर्ववेद में इववाचक उपमा का प्राधान्य है। अथर्वा ऋषि अलङ्कारों में उपमा का और उसमें भी इस कोटि की उपमा का ही प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त अथर्ववेदीय ऋषियों ने विभिन्न प्रसङ्गों में इसी धनुषबाण आदि को उपमान रूप में ग्रहण कर उपमायों की अधिक औचित्यपूर्ण योजना की है।[1]

मन्त्रोपमा : कुछ मन्त्रों का प्रारम्भ उपमा से ही हुआ है। इस प्रकार की विशेषता "यथा" वाचक वाली उपमा में भी दृष्टव्य है।[2] प्रथम उद्धरण में प्रथम तीनों पादों के आरम्भ में उपमान का प्रयोग हुआ है। द्वितीय उद्धरण में तीनों पादों में उपमाओं का दर्शन होता है।

पादोपमा : बहुत-सी ऐसी भी उपमाएँ हैं जो किसी न किसी पाद के प्रारम्भ में आई हैं। इस कोटि की उपमाओं में बलपूर्वक विषय को प्रस्तुत किया जाता है।[3] इन उपमाओं का प्रभाव परवर्ती साहित्य पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत में अनेकों उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

सूक्तोपमा : बहुत-सी उपमाएँ सूक्त के अन्तिम मन्त्र में पाई जाती हैं। किसी-किसी

---

१. आ. ते योनिं गर्भं एतु पुमान् बाण इवेषुधिम। (अथर्व.- ३।२३।२)
अथास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानयापसः। (वही-४।६)
आहं तनोमि ते पसो अधिज्यामिव धन्वनि। (वही-४।४।७)
सात्रासाहस्याहं ... मुञ्चाभिरथां इव। (वही-५।१३।६)

२. पुत्र इव पितरं ... कृत्याकृतं पुनः। (वही-५।१४।१०)
अग्निरिवैतु प्रतिकूलं ... कृत्याकृतं पुनः। (वही-५।१४।१३)
वात इव वृक्षान् ... प्रजास्त्वाय बोधय। (वही-१०।१।१७)
अश्व इव रजो ... पृथिवी यादजायत्। (वही-१२।१।५७)
धर्म इवामितपन् दर्भ ... इव वीरुजं बलम्। (वही-१९।२८।३)

३. मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे। (वही-२।२८।१)
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ। (वही-२।२८।५)
मातेव पुत्रं पितृतेह युक्ताः। (वही-५।२६।५)
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि। (वही-६।३०।३)
इन्द्र इव दस्यूनव धनुष्व मृतन्यतः। (वही-१९।४६।२)

मन्त्र में दो उपमाएँ एक साथ आती हैं।[1] एक उपमा वाले प्रमाण का दिग्दर्शन एक मन्त्र में किया गया है।[2]

ध्वनि सौन्दर्योपमा : कुछ उपमाएँ ध्वनि सौन्दर्य से युक्त देखी जाती है।[3]

विविधोपमा - इव वाचक उपमाएँ अपने विषय वैविध्य के लिए भी प्रसिद्ध हैं।[4]

लिङ्ग, वचन भेदोपमा : लिङ्ग और वचन दोनों में विभिन्नता होते हुए भी उपमा के सौन्दर्य में किसी प्रकार की कमी नहीं होती।[5]

यथावाचक श्रौती उपमाएँ : अथर्ववेद में यथावाचक उपमाओं में प्राकरणिक और प्रकरणिक दोनों चित्र अत्यन्त सुन्दरता के साथ चित्रित दिखाई देते हैं साथ ही कवि की भावनाभिव्याक्ति अत्यंत प्रभावपूर्ण प्रतीत होती है। इन उपमाओं में यथावाचक से ही मन्त्र का प्रारम्भ हो जाता है।

उपमा में शक्तिमत्ता : यहाँ शक्तिमत्ता का भी दर्शन होता है। इसकी पुष्टि कुछ उपमाओं के विवेचन से हो जाती है।[7]

वैचित्र्यपूर्ण उपमाएँ : इन उपमाओं में विभिन्न जीवों की विवित्र क्रियाओं तथा चेष्टाओं आदि पर प्रकाश डाला गया है।[8]

मालोपमा : जिनमें एक उपमेय के लिए कई उपमानों का प्रयोग देखा जाता है, ऐसी उपमाओं को मालोपमा कहते हैं क्योंकि इनमें प्रायः साधारण धर्म के भिन्न होने पर अनेक उपमानों का उपादान किया जाता है।

---

१. मामनु प्र ते ... बारिव धावतु। (अथर्व., ३।१८।६)
२. सूर्य इवा भाति प्रदिशश्चतस्रः। (वही-१९।३३।५)
३. ये त्रयः ... इव श्रिताः। (वही-६।८०।२)
   यां कल्यन्ति वह ... हस्तकृतां चिकित्सवः। (वही-१०।१।१)
४. इदं हविर्यातुधानान् नदी-फेनमिरा वहत्। (वही-१।८।१)
   वात्रा इव धेनवः ... समुद्रमवजग्मुरापः। (वही-२।५।६)
५. मातेव पुत्रं प्रमना ... मित्रियात् पात्वंहसः। (वही-२।२८।१)
   पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व। (वही-१२।३।१२)
६. यथाश्वत्थ निरमनो ... भिन्दि सहस्व च। (वही-३।६३।६)
   यथेयं पृथिवी ... त्वामवसे हुवे। (वही-५।२५।२)
७. यथेदं भूम्या ... मथूनाभि ते मनः। (वही-२।३०।१)
   यथा वातश्च्यावयति ... ब्रह्मनुत्तमपांयति। (वही-१०।१।१३)
८. यथा नकुलो ... सं चेहि वीर्यावति। (वही-६।१३६।५)

रूपक : इसमें दोनों चित्तों की एकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है। यही रूपक शब्द की इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होता है।[१]

उल्लेख : इसमें निमित्त एक वस्तु का कई प्रकार से उल्लेख होता है इसीलिए उसे उल्लेखालङ्कार कहते हैं। एक ही पदार्थ का विभिन्न मनःस्थिति में विभिन्न प्रकार से वर्णन होता है। ऐसा वर्णन उल्लेख अलङ्कार की श्रेणी में आता है।[२]

उत्प्रेक्षा : इन अध्यवसाय गर्भित अलङ्कारों में उत्प्रेक्षा प्रथम है, जिसमें उपमान के द्वारा उपमेय की प्रतीति का निगरण हो जाता है और उपमेय के समान उपमान के साथ एक रूप में सम्भावना होने लगती है।[३]

अतिशयोक्ति : यह भी अध्यवसाय गर्भित अलङ्कार है। यहाँ कल्पना, लोक प्रसिद्धि का अतिक्रमण करती हुई प्रतीत होती है। अथर्ववेद में तक्षक सर्प विषयक अलङ्कार देखा जाता है।[४]

समासोक्ति : जहाँ कहीं विशेषण अर्थ में सौन्दर्यवृद्धि करते हैं, वहाँ यह विशेषण विच्छित्तिमूलक है, जिन्हें समासोक्ति कहा जाता है। कहीं-कहीं विशेषण के साम्य अथवा श्लिष्ट होने से प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने लगती है, ऐसे स्थलों पर समासोक्ति अलङ्कार होता है।[५]

परिकर : इस अलङ्कार में विशेषण का साभिप्राय प्रयोग देखा जाता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ से वाच्यार्थ का परिस्करण होता है।[६]

स्वभावोक्ति : कवि की कृति में लोक के नाना प्रकार के जीवों का स्वाभाविक वर्णन देखा जाता है और वह काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग होता है। आलङ्कारिकों ने इसे स्वभावोक्ति नाम दिया है।[७]

---

१. एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्। (अथर्व.- ९।७।२५)
   तस्योदनस्य बृहस्पतिः ... ऋषयः प्राणापानाः। (वही-११।३(१) १, २)
२. स नः पिता जनिता ... भुवना यन्ति सर्वा। (वही-२।१।३)
   माता दित्यानां दुहिता ... भर्गश्चरति मर्त्येषु। (वही-६।१।४)
३. दिव्यः सुपर्णः स ... भुवनानि विश्वा। (वही-१३।२।६)
   उच्चापतन्तमरुणं ... दिवस्तरणिं भ्राजमानम्। (वही-१३।२।३६)
४. ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो ... चकारा रसं विषम्। (वही-४।६।१)
५. वृक्षं यद् गावः ... वयदिद्युमिन्द्र। (वही-१।२।३)
६. उत्तानपर्णे सुभगे ... पतिं मे केवलं कृधि। (वही-३।१८।२)
   रुद्र जलाषभेषज ... जह्वरसान् कृण्वोषधे। (वही-२।२७।६)
७. दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां ... समरे वधानाम्। (वही-५।२०।५)
   पदा प्रविध्य पाण्यां स्थालीं गौरिव स्पन्दना। (वही-८।६।१७)

काव्य प्रकार

काव्य के सम्बन्ध में लाक्षणिकों ने सर्वत्र यही कहा है कि काव्य तीन प्रकार का होता है उत्तम, मध्यम तथा अवर। अथर्ववेद के विभिन्न काव्य प्रकारों को हम इन्हीं तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

गीतिकाव्य : किसी भाव में डूबे हुए ऋषि कवि के हृदयोद्गार में उत्तम कवित्व की झाँकी के दर्शन होते हैं। ऋषियों ने अपने भावना-भावित हृदय को समुच्छ्वासित किया है। इस प्रकार के काव्य को हम गीतिकाव्य कहते हैं। अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के एक सूक्त में भावों की सुकुमारता, लयात्मकता, सङ्गीतात्मक सौन्दर्य, छन्द प्रयोग का औचित्य आदि पक्ष दर्शनीय हैं।[1]

प्राण ही जीवन है और प्राणों का उत्क्रमण ही जीवन का अन्त है। प्राण की इस महत्ता को द्योतित करने के लिए रचित प्राणसूक्त में भावों की कोमलता, भाषा की लयात्मकता और सङ्गीतात्मकता गीतिकाव्य के रूप में दृष्टव्य है।[2] यह सूक्त अपने लयात्मक और सङ्गीतात्मक सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध हैं। कतिपय स्थलों में शृङ्गारपरक गीतिकाव्य भी दर्शनीय हैं।[3] भाषा के प्रवाह, भावों की सरलता और उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति के अनुरूप अनुष्टुप् का प्रयोग विशेष उल्लेखनीय है। गीतिकाव्यों के अन्तर्गत करुण एवं शृंगार रस के चित्रण का साक्षात्कार करने के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का रसास्वादन भी होता है।

स्तोत्र काव्य : इस काव्य को भी साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञों ने उत्तम काव्य माना है। इनमें पृथिवीसूक्त विशेष रूप से वर्णित है जिसमें पृथिवी का अत्यन्त काव्यात्मक वर्णन हुआ है।[4] इसी भाँति अथर्ववेद में वनस्पतियों को इङ्गित कर विविध प्रकार के स्तोत्रों की सङ्गठना की गई है। विभिन्न वृक्षों, पौधों एवं जड़ी औषधियों में देवत्व की कल्पना कर उसकी स्तुति करना यह इस वेद का वैशिष्ट्य है।[5] इसमें कवि के हृदयपक्ष की प्रधानता स्पष्टतः झलकती है।[6] गोसूक्त भी स्तोत्र काव्य का सुन्दर उदाहरण हैं।[7] वेद मन्त्रों में स्तुति, स्तोम आदि शब्दों का प्रयोग स्तोत्रकाव्य को मान्यता प्रदान करता है।[8]

---

१. अथर्व., २।१५
२. प्राणाय नमो यस्य ... सर्व प्रतिष्ठितम्। (अथर्व., ११।४।१)
३. कामो जज्ञे प्रथमो ... ते काम नम् इत् कृणोमि। (वही-६।२।१९-२१)
४. विश्वम्भरा वसुधानि ... पुत्राय मे पयः। (वही-६,६,१०)
५. अश्वत्थ शत्रूनमामकान.. भिन्दि सहस्व च। (वही- ३।६।५,६)
६. शं नो देवि पृश्निपर्ण्येशं ... अग्निरिवानुदहन्निहि। (२।२५।१४)
उत्तानपर्णे सुभगे ... पथा वारिव धावतु। (वही-३।१८।२,६)
७. वही - १०।६, १०।१०, १२।४, १२।५
८. स्तुता मया वरदा वेदमाता। (वही-१६।७१।१)

रहस्यात्मक काव्य : इस वेद में रहस्यात्मक काव्य का अवलोकन भी होता है, जिसके अन्तर्गत ऋषि कवियों ने एक रहस्यात्मक दार्शनिक कल्पना के माध्यम से कविता के स्वरूप को विचित्र रूप में प्रस्तुत किया है। अनड्वान के माध्यम से ब्रह्म की रहस्यात्मक्ता विवेचित की गई है। उसका स्वरूप एक मन्त्र में दर्शनीय है।[१] स्कम्भ[२], उच्छिष्ट[३] तथा रोहित[४] के द्वारा प्रस्तुत काव्यतत्त्व का रहस्यात्मक स्वरूप दर्शनीय है। गन्धर्व के रूप में ब्रह्म के विराट् स्वरूप का रहस्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।[५]

प्रहेलिका काव्य : गीति तथा स्तोत्रकाव्य को उत्तम काव्य के रूप में, रहस्यात्मक काव्य को मध्यम कोटि में प्रस्तुत करने के उपरान्त प्रहेलिका काव्य को अवर श्रेणी के रूप में देखा गया है। अथर्ववेद का प्रारम्भ ही प्रहेलिका द्वारा होता है।[६] इसमें प्रहेलिकाओं का दर्शन प्रश्नोत्तर के रूप में प्राप्त होता है। इनका विषय आध्यात्मिक है। ब्रह्म प्रकाशनसूक्त में प्रारम्भिक २० मन्त्रों तक प्रश्नों की श्रृंखला चलती है और तदुपरान्त ब्रह्मसत्ता को स्वीकार किया गया है।[७] स्कम्भसूक्त में भी आत्मा के विषय में अनेक प्रश्न किये गये हैं[८] कभी सन्दर्भ आदि के द्वारा इनका रहस्योद्घाटन हो जाता है और कहीं भाष्यकार सम्पादित करते हैं। यथा कृष्णवर्णा रात्रि का श्वेतपुत्र[९] सूर्य ही हो सकता है। सहस्र शृङ्गों वाला वृषभ हो सकता है जो समुद्र से प्रकट हुआ है।[१०] परम्परागत भाष्य ही प्रहेलिका के आशय को समझाने में समर्थ होते हैं। यह हमें गन्धर्व विषयक मन्त्र में दृष्टिगोचर होता है।[११] अथर्ववेद की कुछ प्रहेलिकाओं का वास्तविक आशय भाष्य के न होने से समझ में नहीं आता।

इस प्रकार अथर्ववेद में विविध प्रकार की प्रहेलिकाओं का दर्शन होता है। काव्य भी वेद से उद्भूत होकर लौकिक संस्कृत काव्य में दिखाई पड़ता है। अथर्ववेद के विभिन्न काव्य प्रकारों में हमें उत्तम, मध्यम और अवर इन तीनों काव्यों का आस्वाद मिलता है।

---

१. अनड्वान दाधार पृथिवीमुत ... भुवनमाविवेश। (अथर्व.-४।११।१) अनड्वान दुहे सुकृतस्य... दक्षिणा दोहो अस्य। (वही-४।११।४)
२. स्कम्भो दाधार ... भुवनमाविवेश। (वही-१०।७।३५)
३. उच्छिष्टे नामरूपं ... चन्द्रमा वात आहितः। (वही-११।७।१,२)
४. रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते। (वही-१३।१।३७)
५. दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य ... दिवि ते सधस्थम्। (वही-२।२।१,३)
त्वं स्त्रीत्वं पुमानसि ... ख उ गर्भे अन्तः। (वही-१०।८।२७,२८)
६. ये त्रिषटताः परियन्ति ... अद्य दधातु मे। (वही-१।१।१)
७. केन श्रोत्रियमाप्नोति ... चान्तरिक्षं व्यचोहितम्। (वही-१०।२।२०-२५)
८. कस्मिनङ्गं तपो अस्यधि ... तिष्ठत्युतरं दिवः। (वही-१०।७।१-३)
९. कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो जायत। (वही-१३।३।२६)
१०. सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्। (वही-४।५।१)
११. प्र तद् वोचेमृतस्य ... पितुष्पितसत्। (वही-२।२।२)
अध्यापयामास ... वः शिशुरुक्तवान्। (मनुस्मृति-२।१५१।१५२)

नवम अध्याय

दार्शनिक-मूल्य

दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि

वस्तुतः मूल आथर्वणिक-सिद्धान्तों में दार्शनिक तत्त्वों के सङ्केत प्राप्त होते हैं। जिन दार्शनिक सूत्रों के साक्ष्य वेदों में प्राप्त होते हैं। उन्हीं सूत्रों का विकसित रूप अपनी व्यापकता एवं विशालता से ओतप्रोत होकर उपनिषद् एवं परवर्ती दार्शनिक ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। दार्शनिक मूल्यों का उपस्थापन करते समय यह बात ध्यानेय है कि अथर्व-सिद्धान्तों में जहाँ एक ओर ऐन्द्रजालिक मन्त्रों एवं सूक्तों की प्रधानता है वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सूक्तों का भी प्राचुर्य है।[१] डॉ. राधाकृष्णन् का विचार है कि यद्यपि अथर्ववेद में जनसामान्य की दैवी विद्या का परिपोषण है तथापि इसके कुछ भाग ऋग्वेद से भी विकसित हैं और उपनिषदों एवं ब्राह्मणों के समान हैं।[२] एजर्टन ने अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों का सम्बन्ध उपनिषदों से दर्शाया है।[३] स्केरमान ने अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों का सम्बन्ध उपनिषदों से दर्शाया है और इसे ऋग्वेद की अपेक्षा उपनिषदों के अधिक समीप बताया है।[४] महान् दार्शनिक दाउसन ने अथर्ववेद के दो सूक्तों[५] का विषय मानव जीवन में ब्रह्मसिद्धि बताया है। ब्लूमफील्ड[६] का कथन है कि अथर्ववेद में आध्यात्मिक सूक्तों का सबसे बड़ा संग्रह है। अथर्ववेद की भूमिका में सायण ने कहा है कि अथर्ववेद, ब्रह्मवेद इसीलिए कहा गया है क्योंकि इसके दृष्टा ब्रह्मन् हैं जिन्हें अथर्वन् भी कहा जाता है।[७] गोपथ

---

१. हि. इं. लि., भाग १, पृ. १३०-१३१
२. इण्डियन फिलॉसफी, भाग १, पृ. १२१
३. अमे. ओ. सी. भाग ३६, पृ. १६७-२०४, स्टडीज ऑफ ...... ब्लूमफी. पृ. ११७-३५
४. हापकिन्स रेलि. ऑफ इण्डिया, पृ. १५६
५. विन्टरनित्स रेलि. ऑफ इण्डिया; पृ. १३५, अथर्व., ११।८, १०।२
६. से. बु. ऑफ द ईस्ट, पृ. ६६
७. सायण भूमिका, पृ. ४

ब्राह्मण में इसे भूयिष्ठ ब्रह्म से समीकृत किया गया है जिसकी उत्पत्ति तप से हुई थी।[1] विष्णुपुराण[2] के अनुसार अथर्ववेद दो प्रकार का ज्ञान बताता है। यहीं पर वर्णित प्राण[3] परवर्ती भारतीय अध्यात्मशास्त्र का अङ्ग बना। इसी प्रकार ब्रह्म, माया, काल, स्कम्भ, काम आदि का वही स्वरूप अथर्ववेद में प्राप्य है, जो उपनिषदों में वर्णित है। दो सुपर्णों में वर्णित मन्त्र का उपनिषदों में महत्त्वपूर्ण उपयोग है।[4]

ब्रह्मन् : कई मन्त्रों में व्यक्तिगत ब्रह्मन् का उल्लेख मिलता है। अगस्त्य के ब्रह्मन् से शरीर के कीटाणुओं के नाश का वर्णन है।[5] ब्रह्मन् के द्वारा शत्रु के प्राणों के नाश करने और उसकी नाड़ियों को काटने का प्रसङ्ग है।[6] युद्ध का नगाड़ा भी ब्रह्मन् से युक्त है।[7] अथर्ववेद के कुछ स्थलों पर रोगमुक्ति, दुरात्माओं का निवारण तथा युद्धादि कार्यों में सफलता के लिये ब्रह्मन् का प्रयोग निश्चय ही जादू की शक्ति के रूप में हुआ है जो मन का देवता है।[8] एक सूक्त में वर्णित सवयज्ञ में ब्रह्मन् का महत्त्वपूर्ण स्थान है।[9] ब्रह्म ही यज्ञ-अग्नि और यज्ञ पुरुष है।[10] इसका सृष्टि से भी सम्बन्ध है। यह सर्वप्रथम उत्पन्न वेन् कहा गया है।[11] ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है।[12]

आत्मन् : एक मन्त्र में आत्मा का तादात्म्य अन्तरिक्ष से स्थापित किया गया है। उसे प्राण तथा शरीर से पृथक् वर्णित किया गया है।[13] दाउसन आत्मा के तात्पर्य के विकास में प्राण को श्रेय देते हैं। उपनिषदों में आत्मा का वर्णन है।[14]

---

१. मो. ब्रा.,१।४; ब्रह्म च तपश्चालोकः। (अथर्व.,८।१०।५१)
२. विष्णुपुराण-६।५
३. डॉ. राधाकृष्णन्, पृ. १२२
४. द्वा सुपर्णा सयुजा ... अभिचाकशीति। (अथर्व., ६।६।२०)
   श्वेताश्वतरोपनिषद्- ४।६; मुण्डकोपनिषद्-३।१
५. अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं विनष्म्यहं क्रिमीन। (अथर्व.,२।३२।३)
६. सप्तप्राण नष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चाभि ब्रह्मणा। (वही-२।१२।७)
७. वही,५।२०।१०
८. वृहता मन उपहवये। (वही-५।१०।८)
९. वही-१६।४२।१,२
१०. ब्रह्मश्रौतियमाप्नोति ... संवत्सरं मम। (वही-१०।२।२१)
११. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्। (वही-५।६।१)
१२. स यो वाचं ब्रह्मेत्युपासतं। (छान्दो., ७।२।२, १।२।११) ३।१६, ३।१४।१, ४।१४।१)
   वृहदारण्यक., १।३।२०, ४।३।३३, २।१।२०; मुण्डको., १।१।६, १।१।३
   श्वेताश्वेतरो.- ६।१६, ३।१
१३. सूर्यो मे चक्षुर्वातः ... पृथिवी शरीरम्। (अथर्व.- ५।६।७)
१४. इन साइक्लो. रैलि. इथिक्स, भाग २, पृ. १६५

जीवन और मृत्यु : अथर्ववेद जीवन को अत्यन्त ही सुखमय मानता है। इसमें पृथिवीलोक को अमरलोक कहा गया है।[१] शरीर के प्रत्येक अङ्गों का सम्बन्ध देवों से किया गया है।[२] अथर्व-साहित्य में ऐसे व्यक्ति की कल्पना की गई है, जो शतायु होने के साथ मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकता हो।

तप और साधना : अथर्व-साहित्य में तपोसाधना को जीवन के प्रत्येक पक्ष के साथ जोड़कर उसका उपस्थापन किया गया है। जीवन के उच्चतम मूल्यों को प्राप्त करने के लिए इसका आश्रय लेने का निर्देश दिया गया है। एक प्रमाण के अनुसार स्कम्भ की उत्पत्ति तप के द्वारा ही हुई है।[३]

प्राण (तत्त्वज्ञान) : वैदिक ऋषि ने शरीर के सारतत्त्व प्राण का समीकरण महान् शक्तियों से किया है। प्राण को वायु और मातरिश्वन् कहा गया है। वही भूत और भविष्य है। उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है।[४] प्राण विराट् व निर्देशक है। यही सूर्य, चन्द्रमा और प्रजापति है।[५] प्राण को जीवनदायिनी शक्ति से संज्ञित किया गया है।[६] डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार अथर्ववेद में प्राणशक्ति के सिद्धान्त का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है।[७]

कर्मन् : अथर्ववेद में स्वर्ग और नरक की चर्चा है।[८] साथ ही पितरों एवं देवों के मार्ग का उल्लेख है।[९] ब्राह्मण को त्रस्त करने वाला नरक का भागी माना गया है।

पुनर्जन्म : अथर्ववैदिक व्यक्ति शरीर और प्राण की भिन्नता में विश्वास करता है। मृतक को तो जला दिया जाता है।[१०] अथर्ववैदिन् के मत से अग्नि और भूय समाधि केवल शरीर को ही नष्ट करते हैं, वास्तविक व्यक्तित्व पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता।[११]

माया : इस साहित्य में माया का प्रभाव शक्ति के रूप में वर्णित है। यह देवताओं के साथ शुभ और दानवों के साथ अशुभ शक्ति का द्योतक है। सायण ने इसका अर्थ सामान्यतया व्यामोह शक्ति किया है तथा व्हिटने ने इसे जादू और भ्रम के अर्थ में अनुदित किया है। माया की उत्पत्ति माया से ही हुई है।[१२] उपनिषदों में माया को अजन्मा कहा गया है।[१३]

---

१. अन्तकाय मृत्यवे नमः .... भागे अमृतस्य लोके। (अथर्व.,८।१।१)
२. बृहता मन उपह्वये ... हवामहे मनोयुजा। (वही-५।१०।८)
३. यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्सर्वान्समानशे। (अथर्व.- १०।७६।१)
४. वही-११।४
५. प्राणो विराट् प्राणो ... प्राणमाहुः प्रजापतिम्। (वही-११।४।१२)
६. अपां गर्भमिव जीवसे प्राण वहनाभित्वा मयि। (वही-११।४।२६)
७. इण्डियन फिलॉसफी भाग-१, पृ. १२२, तुलना-छान्दो. ५।१।६-१५; प्रश्न.- १।५, २।६-१३; छान्दो.- १।११।५; प्रश्न.- १।४
८. स्वर्ग-६।१२०।३, नरक - २।१४।३, ५।१६।३ अथर्व.
९. ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः। (वही-६।११७।३)
१०. स्वधाकारणं पितृभ्यो ... मातु है न गच्छेति। (वही-१२।४।३२, १८।३।४८)
११. वाता उप वान्तु ... पुनरावेशयन्तु। (वही-१८।२।७, २१-२३)
१२. माया ह जज्ञे मायायाः। (वही-८।६।५)
१३. श्वेताश्वतरोपनिषद्-४।१०

सत् और असत् : एक मन्त्र में स्कम्भ में सत् और असत् दोनों को निहित किया गया है। यहाँ सत् का अर्थ स्थिर और असत् का अर्थ परिवर्तनशील प्रतीत होता है।[१] दूसरे मन्त्र में सत् और असत् शाखा के उपासकों का उल्लेख है।[२] व्हिटने ने सत् का अर्थ सत्ता और असत् का सत्तारहित करते हैं।[३] एक स्थान पर ब्रह्मन् को सत् और असत् का भण्डार कहा गया है।[४]

सृष्टि : अथर्ववेद में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई सूक्त प्राप्त होते हैं। एक मन्त्र में जल द्वारा विश्व की रक्षा का उल्लेख है।[५] अन्य में सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति वर्णित है।[६]

पाप और पुण्य : मनुष्यों में पापकर्म का भय था। उसका विश्वास था कि जो ब्राह्मण को त्रस्त करता है वह रुधिर की नाली में पड़ कर केशों का भक्षण करता है।[७] तीर्थाटन करने वाले उत्कृष्ट मार्गों से स्वर्ग जाते हैं। पाप वर्तमान है। इसका स्थानान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे पर किया जा सकता है। या पिता से पुत्र पर या देवों से मनुष्य पर हो सकता है।[८] एक सूक्त में पाप से मुक्ति-प्राप्ति हेतु प्रार्थना की गई है।[९]

सदाचार : श्रेष्ठ आचरण ही सदाचार की संज्ञा से विभूषित है। यज्ञ कार्य में यजमान को क्रोध का आना अनुचित माना गया है अतः उस क्रोध की शान्ति के निमित्त किसी न किसी विशेष प्रकार के उपचार करने का निर्देश भी दिया गया है।[१०] आचरण के पालनकर्त्ता को विशेष प्रायश्चित्त करने का उल्लेख मिलता है।[११]

लोकातिग वस्तुओं का स्वरूप दर्शन : इन लोकातिग वस्तुओं में हम व्रात्य तथा विराट् आदि को सम्मिलित कर सकते हैं। अथर्ववेद के ऋषियों ने व्रात्य का वर्णन सम्पूर्ण काण्ड

---

१. असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि। (अथर्व.-१०।७।१०)
२. असच्छाखां प्रतिष्ठन्ती ... ये ते शाखामुपासते। (वही-१०।७।२१)
३. अथर्ववेद संहिता, पृ. ५६१, ५६२
४. अथर्व.- ४।१।१
५. आपो अग्रे विश्वभावन्गर्भं दधाना। (वही-४।२।६)
६. वही-६।५।२०-२१
७. अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते। (वही-५।१६।३)
८. अथर्व. एण्ड गोपथ ब्रा., पृ. ८३
९. देवेनसा दुन्भदितमुनमत्त तमृच्छतु यमु द्विष्पस्तमिज्जहि। (वही-६।२६।३)
१०. मा वो मेधां मा नो दीक्षां मा वे हिं सिष्टं यक्ष्पः। (वही-१६।४०।३)
११. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा ... कल्पयन्ताभिहैव। (वही-७।६७।१)
सूक्त- २३५, व्हिटने, पृ. ७६

में किया है।[1] ऋषि ने ऐसे विलक्षण व्रात्य को आर्ष कल्पना के साथ खड़ा किया है, जिसकी व्यापकता और विशालता में लोक का कोई भी प्राणी समानता नहीं कर सकता। अष्टम काण्ड के दशम सूक्त के समस्त पर्याय विराट् की महिमा का वर्णन करते हैं। उसके प्रकट होने पर सभी डरें कि यही जगत होगा।[2] इस वैचित्र्यपूर्ण लोक की सृष्टि अथर्ववेदीय ऋषियों की कल्पना शक्ति की परिचायक है।

आथर्वणिक लोक-दर्शन का स्वरूप एवं उसकी विलक्षणता : हिमालय जो कालिदास के ग्रन्थों तथा अन्य कृतियों में राष्ट्रीय एवं धार्मिक महत्ता रखता है, यहाँ नहीं के बराबर है। ऋग्वेद में एक स्थान पर ही उसका सङ्केतमात्र है। गृह और वन दोनों स्थानों की विविध वस्तुओं को कहीं उपमान रूप में अथवा किसी अन्य प्रकार से अपनाया है और चेतन, अचेतन रूप में हमारे सम्मुख एक विशाल लोक उपस्थित किया गया है। वे इस विचित्र लोक का भी वर्णन करते हैं, जहाँ का मार्ग आदि सभी स्वर्णमय है।[3]

ऋषियों ने अपनी प्रतिभा और व्युत्पत्ति के योग से लौकिक एवं अलौकिक चित्र-विचित्र वस्तुओं का स्वरूप दर्शन करवाया है। जिस सौन्दर्य को उन्होंने कुरूप और तुच्छ वस्तु में भी उन्मीलित कर उसे आकर्षक बना दिया है। अथर्व संहिता में प्राप्त ब्रह्म सम्बन्धी साक्ष्यों के आधार पर ही आथर्वणिक उपनिषदों में ब्रह्मविद्या नामक एक विशिष्टतम सिद्धान्त आविष्कृत हुआ। ब्रह्मसूत्र, वेदान्त परिभाषा, श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, योगवशिष्ठ एवं अन्यान्य अनेक ग्रन्थों का प्रणयन इस ब्रह्मविद्या सिद्धान्त के अन्तर्गत ही हुआ है। अथर्व सिद्धांतों में प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धांतों का प्रभाव परवर्ती दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी पड़ा है।

इस प्रकार विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अथर्व-सिद्धान्तों में जहां राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक सिद्धान्तों का मूल रूप से उपस्थापन हुआ है, वहीं मूल दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी प्रकाश डाला गया है। अतः समस्त भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के स्रोत के रूप में उस अथर्वाङ्गिरस परम्परा को ही मानना चाहिए।

---

१. अथर्व.- १५
२. विराड् वा इदमग ... भविष्यतीति। (वही-८।१०(१)१)
३. हिरण्ययाः पन्थान आसन्। (५।४।५)

उपसंहार

इस ग्रन्थ के अन्तर्गत उन मानवीय पक्षों पर विचार किया गया है, जो पक्ष महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विचारकों के द्वारा सदैव उपेक्षित रहे। इस ग्रन्थ को प्रमुख रूप से दो पक्षों में विभक्त किया गया है। प्रथम पक्ष के अन्तर्गत अथर्वाङ्गिरस-परम्परा का विधिवत् विश्लेषण किया गया है। अथर्व तथा अङ्गिरस उभयपदों का समान महत्त्व एवं वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान है। इस प्रबन्ध के पूर्व भाग में इसी आशय को स्पष्ट रूप से प्रस्थापित किया है। अथर्व शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ के सम्बन्ध में विचार, महर्षि अथर्वा की उत्पत्ति, स्वरूप आदि पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। महर्षि अथर्वा के द्वारा जो भी सिद्धान्त उपस्थापित किए गये, वे समस्त जनहित एवं लोक कल्याण की दृष्टि से उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। उक्त माङ्गलिक सिद्धान्तों ने वैदिक वाङ्मय से लेकर वर्तमान साहित्य की आन्तरिक गतिविधियों को प्रभावित किया है। महर्षि अङ्गिरा अभिचार सम्बन्धी उग्र सिद्धांतों के पोषक हैं अतः इसी प्रसङ्ग में अङ्गिरस शब्द का अर्थ एवं आङ्गिरस शब्द के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करते हुए उनकी महत्ता का विवेचन किया गया है। अथर्वन् तथा अङ्गिरस की परम्परा में अन्तर तथा ऐक्य पर दृष्टिपात करने के साथ इस सम्मिलित परम्परा के प्रमाणों को उद्धृत किया है।

अथर्वाङ्गिरस का क्षेत्र अधिक विशाल एवं व्यापक रहा है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, व्याकरण, इतिहास, पुराण, काव्य तथा उपनिषदों से लेकर धर्मशास्त्र पर्यन्त इसके अक्षुण्ण क्षेत्र पर यथामति प्रकाश डाला गया है। संहिता, काण्ड, सूक्त, मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, स्मृति, उपनिषद् तथा परवर्ती साहित्य में इसका विशाल रूप परिलक्षित हुआ है, जो व्यक्ति के बाह्य एवं आन्तरिक रहस्यों को चित्रित करता है। अथर्वाङ्गिरस-परम्परा वैदिक भारतीय के सम्पूर्ण जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है। अथर्ववेद व्यक्ति के विभिन्न यज्ञों के कर्त्ता, अर्थसम्य प्राणी, भूत, पिशाचों से ग्रसित, घृणी, व्यसनी और अभिचारकर्ता के रूप को वर्णित करता है।

संस्कृति के विकास में राज्य और सरकार का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। राजा का प्रधान कार्य प्रजा की सर्वतोमुखी सेवा करना ही माना गया है। अथर्ववेद के यशस्वी, प्रजापालक और धीरोदात्त नरेशों में परीक्षित का उल्लेख प्राप्त होता है। इस परम्परा में राज्यों के दो प्रकारों का उल्लेख है–एक तन्त्रात्मक और दूसरा गणतन्त्रात्मक। शासन में जनता को भाग लेने हेतु पर्याप्त अवसर प्राप्त था। सूक्तों में अपनी वाक्पटुता से लोगों को आश्चर्यचकित कर देने की सतत जिज्ञासा प्रकट की गई है।

अथर्वाङ्गिरसीय-परम्परा के अन्तर्गत एक सङ्गठित समाज का स्वरूप देखने को मिलता है। इसके कई मन्त्रों से समाज के चारों वर्णों की स्थिति ज्ञात होती है। इन वर्गों के परस्पर

सम्बन्ध का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता कई सूक्तों में सिद्ध की गई है। क्षत्रिय शासक वर्ग के रूप में अधिष्ठित किया गया है। वैश्य, कृषि, व्यापारादि औद्योगिक कार्यों में संलग्न था। शूद्रों और दासों के प्रति घृणा व्यक्त की गई है। व्यक्ति का जीवन प्रमुख रूप से ब्रह्मचर्य और गृहस्थ जीवन में विभाजित हो चुका था। समाज की सबसे छोटी इकाई के रूप में परिवार को ही स्थान दिया गया है। कुल प्रायः पितृप्रधान होते थे। समाज में एक पत्नीत्व का अधिक प्रचलन था, परन्तु राजपरिवारों में एकाधिक पत्नियों को रखने की प्रथा थी। समाज में विधवा विवाह का प्रचलन था।

इस काल की नारी का जीवन चिन्तनीय नहीं था। नारी का अत्यधिक दयालु रूप माता में मिलता है। वह पुत्रों की सब भाँति संरक्षिका है। अथर्वकालीन व्यक्ति का जीवन सभ्य और सुसज्जित था। स्त्रियाँ केशों का कई रीतियों से शृङ्गार करती थीं। स्वर्ण और रजत के आभूषण भी प्रचलित थे।

खाद्य सामग्रियों में जौ, धान, उड़द, सावा आदि था। पेय पदार्थों में दूध, मधु, सोम और सुरा उल्लेखनीय हैं। इनके पात्र लोहे, ताँबे, चाँदी, सोने और काष्ठ के बने होते थे। यदि धर्म और विश्वास, जाति या समाज की संस्कृति की उत्कृष्टता और निकृष्टता का द्योतक है, तो अथर्ववेद संहिता एक ऐसे व्यक्ति के धार्मिक जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है, जिसका सम्पूर्ण कार्य मन्त्र-तन्त्र से युक्त रहता था। अथर्ववेद संहिता के समस्त सूक्त किसी न किसी अभिचारतंत्र या पैशाचिक शक्तियों से मुक्ति आदि कृत्यों से सम्बद्ध है। देवी शक्तियाँ इन्द्रजाल के सहायक के रूप में प्रकट होती हैं। किसी कामना विशेष की पूर्ति के लिए अग्नि में हवन किया जाता था। अथर्व वैदिक समाज में विशाल यज्ञों का प्रचलन नहीं के बराबर था। इस समय तो यज्ञों का लाक्षणिक रूप ही अवशिष्ट रह गया था। दक्षिणा प्रधान यज्ञ सव कहलाते थे। इसमें देवताओं को अधिकांशतः अभिचार की सिद्धि के लिये आवाहित किया जाता है। इसी प्रकार असुर भी अभिचारकों के सहायक और मित्र हैं तथा उसके शत्रुओं के संहारक हैं। अथर्व वैदिक समाज में उन सभी संस्कारों का समावेश था जिनका परवर्ती साहित्य में विशेष विवरण मिलता है। जन्म के पूर्व-संस्कारों–जातकर्म, प्राणोत्सर्ग के पश्चात् दाह संस्कार कर्म का वर्णन है। स्वर्ग में देवों, पितरों का निवास है। नरक घृणित, दुःखदायी और पीड़ादायक है।

इस काल में व्यक्ति का जीवन पर्यटनशील नहीं था। वह सुव्यवस्थित और स्थायी जीवन व्यतीत करता था। आखेट का आर्थिक जीवन में गौण स्थान था। अथर्व वैदिक काल में प्रमुख व्यवसाय कृषि था। कृषि का प्रारम्भ करने के लिए हल और हलरेखा आदि का पूजन होता था। कुछ लोग अन्य व्यवसाय भी करते थे। ब्राह्मणों का प्रधान व्यवसाय पुरोहिती था। अथर्वकालिक अर्थव्यवस्था में व्यापार उल्लेखनीय है। एक सूक्त से ज्ञात होता है कि वणिक लोग व्यापार में सफलता के लिए अभिचार करते थे। अथर्ववेद में कई विज्ञानों की स्थिति का विवरण प्राप्त होता है। इनमें भैषज्य विज्ञान प्रमुख था। समाज में भिषकों

की संख्या अधिक थी। परवर्ती आयुर्वेदिक ग्रन्थों में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा गया है। इस काल में रोगों के विभिन्न नाम थे। इनसे मुक्ति पाने के लिए अभिचारों का प्रयोग होता था। रोगनिवारक औषधियाँ कई प्रकार की थीं।

अथर्ववेद में ज्योतिष का भी सन्दर्भ है। नक्षत्रों की संख्या २८ कही गई है। इसका वर्णन दो सूक्तों में हुआ है। इसके अतिरिक्त इस काल में शरीरविज्ञान, रसायनविज्ञान तथा भौतिक विज्ञान भी विद्यमान थे। अथर्ववेद संहिता में कई संख्याओं का उल्लेख है, जिससे अथर्वकालीन लोगों के गणित विषयक ज्ञान का द्योतन होता है।

साहित्यिक मूल्यों के अन्तर्गत रस-विवेचन इस विचारधारा का प्रमुख आधार है। साहित्यिक विवेचन के सन्दर्भ में छन्दों का प्रचुरता से समावेश है। ध्वनियों के कठोर, मधुर, अर्थसंवादी एवं वर्ण सङ्गीत आदि विविध रूपों की परिकल्पना है। ऋषियों ने अलङ्कारों पर भी विशेष दृष्टिपात किया है। शब्द एवं अर्थ उभयविध अलङ्कारों की सूची इस कथन की प्रामाणिकता को पुष्ट करती है। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत काव्य प्रकारों को विशेष महत्त्व दिया गया है। गीति, स्तोत्र, रहस्यात्मक एवं प्रहेलिका काव्यों के रूप में उन समस्त काव्य प्रकारों को समाहित किया गया है, जिनका कि वर्तमान साहित्य में विश्लेषण है।

समाज में सरल एवं गहन साहित्यिक भावनाओं के साथ ही अध्यात्म सम्बन्धी विचारों का भी समादर हुआ है। अथर्ववेदीय संहिता से तत्कालीन दार्शनिक जीवन का विकसित स्वरूप प्राप्त होता है जिसका उपनिषदों में पर्याप्त चित्रण हुआ है। ब्रह्मन् और आत्मन् सम्बन्धी विचार भी दार्शनिक भावना के पोषक हैं। यथेष्ट फलों की प्राप्ति में आचार, तप और साधना को भी विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। अथर्ववेदीय ऋषियों ने सृष्टि और उसके स्रोत भूत, नियगन्तक आदि तत्त्वों को विशेष रूप से निर्दिष्ट किया है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

(१) आधार ग्रन्थ

ऋग्वेद संहिता
- श्री विश्वबन्धु शास्त्री विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर
- श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पार्डी
- सम्पादक एफ. मैक्समूलर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
- स्वामी दयानन्द सरस्वती, मन्त्री श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

सामवेद संहिता भाषा भाष्य - श्री पण्डित जयदेव शर्मा, साहित्य मण्डल अजमेर

यजुर्वेद संहिता भाष्य भाग-१, महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) मूल, अजमेर वैदिक यन्त्रालय

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) मूल, आर. रोथ एण्ड डब्ल्यू. डी. व्हिटने, बर्लिन।

अथर्ववेद संहिता (पैप्लाद शाखा) रघुवीर, काण्ड १-१३, सरस्वती विहार सीरीज, लाहौर

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) सायण भाष्य सहित, भाग १-४, शङ्कर पाण्डुरङ्ग पण्डित, बम्बई

अथर्ववेद संहिता (शौनक शाखा) सायण भाष्य सहित, भाग १-२, विश्वबन्धु, होशियारपुर विश्वेश्वरानन्द भारतीय ग्रन्थमाला सीरीज

अथर्ववेद संहिता भाषा भाष्य, भाग १-४, जयदेव शर्मा, अजमेर

अथर्व संहिता मूल - सातवलेकर श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय मण्डल, पार्डी

अथर्ववेद संहिता भाषा भाष्य-सातवलेकर श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय मण्डल, पार्डी

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य-भाग १-४ सातवलेकर श्रीपाद दामोदर, स्वाध्याय मण्डल, पार्डी

अथर्ववेद का व्रात्य काण्ड, श्रुतिप्रभा टीका, डॉ. सम्पूर्णानन्द

अथर्ववेद पदानां अकारादि वर्ण क्रमानुक्रमणिका, विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

अथर्ववेद संहिता - डब्ल्यू. डी. व्हिटने, भाग ७-८, हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज

काश्मीरीयन अथर्ववेद संहिता काण्ड-१, बैरेट एल. सी., ज. ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी, भाग-२६, ३०, ३२, ३५, ३७, ३४, ४०-४४, ४६, ४८, ५०

दि हिम्स ऑफ दि अथर्ववेद-ऐम. ब्लूमफील्ड, सै. बुक्स ऑफ द ईस्ट, भाग-४२, ऑक्सफोर्ड

काठक संहिता - श्रेडर द्वारा सम्पादित

तैत्तिरीय संहिता - महादेव शास्त्री
मैत्रायणी संहिता - श्रेडर
वाजसनेयी संहिता - लक्ष्मण शास्त्री
शतपथ ब्राह्मण - वेबर अनुवादक जे. एम. लिङ्गम्
ऐतरेय ब्राह्मण - सत्यव्रत शास्त्री
तैत्तरीय ब्राह्मण - राजेन्द्रलाल मित्र
पञ्चविंश ब्राह्मण - ए वेदान्त वागीश, कलकत्ता
गोपथ ब्राह्मण - राजेन्द्रलाल मित्र, एच. विद्याभूषण, कलकत्ता
ताण्ड्य ब्राह्मण - सायणाचार्य, भाग-२, चौखम्बा संस्कृत सीरीज
कौशिक सूत्र - एम. ब्लूमफील्ड, वाल्टिमोर
वैतान सूत्र - आर. गार्वे
शौनकीय चतुराध्यायिका - व्हिटने
अथर्ववेद प्रातिशाख्य सूत्र - विश्वबन्धु शास्त्री, पञ्जाब
अथर्ववेद प्रातिशाख्य - लाहौर
अथर्ववेद अनुक्रमणी
अथर्ववेद वृहत्सर्वानुक्रमणी - व्हिटने
आपस्तम्ब श्रौतसूत्र - गार्वे
आश्वलायन श्रौतसूत्र - आर. विद्यारत्न
वृहद्देवता - मेक्डानल, हारवर्ड, ओरियण्टल सीरीज, ग्रन्थ संख्या ५, ६
उपनिषद्
वृहदारण्यक - शाङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
छान्दोग्य - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
ईश - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
केन - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
कठ - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
ऐतरेय - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
तैत्तिरीय - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
मुण्डक - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
माण्डूक्य - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
प्रश्न - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
श्वेताश्वतर - शङ्कर भाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर
कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् - कोवेल
निरुक्त - यास्क, राजवाडे, रायमेहरचन्द

ऋक् तन्त्र - सूर्यकान्त शास्त्री
वाल्मीकि रामायण - रामनारायण लाल, इलाहाबाद, लाहौर
महाभारत - गीताप्रेस, गोरखपुर
श्रीमद्भगवद्गीता - गीताप्रेस, गोरखपुर
मनुस्मृति - निर्णय सागर प्रेस
याज्ञवल्क्य स्मृति - ब्रह्मवादिन प्रेस, जार्जटाऊन, मद्रास
आङ्गिरस स्मृति - आचार्य श्रीराम शर्मा, मथुरा
विष्णु स्मृति - वही
नारद स्मृति - वही
पैठीनसी स्मृति -
श्रीमद् भागवत
विष्णु पुराण - गीता प्रेस, गोरखपुर
वायु पुराण - एच. एन. आप्टे
पद्मपुराण - आनन्दाश्रम
ब्रह्मपुराण - वही
मत्स्यपुराण - जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
ब्रह्माण्डपुराण - व्यङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई
गरुड़ पुराण - चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
षोडश संस्कार - भीमसेन शर्मा, इटावा
अर्थशास्त्र - कौटिल्य, अनुवादक रामशास्त्री
अष्टाध्यायी - पाणिनि
महाभाष्य - पतञ्जलि
कालिदास ग्रन्थावली - सीताराम चतुर्वेदी, वाराणसी
नैषधीयचरितम् - नारायणी टीका
काव्यालङ्कार
ध्वन्यालोक, लोचन टीका
काव्यप्रकाश - आचार्य मम्मट, विश्वेश्वरी टीका
साहित्यदर्पण - विश्वनाथ
अलङ्कार शेखर - केशव मिश्र
वेदान्त परिभाषा
ब्रह्मसूत्र
पञ्चदशी
अथर्ववेद ऋषि, देवता, छन्दोनुक्रमणिका - होशियारपुर

(२) सहायक हिन्दी ग्रन्थ

अथर्ववेद एवं गोपथ ब्राह्मण- एम. ब्लूमफील्ड, अनुवादक–सूर्यकान्त चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी
वैदिक देवशास्त्र - डॉ. सूर्यकान्त, श्री भारत भारती लिमिटेड, १ अन्सारी रोड, नया दरियागंज, दिल्ली-६
वैदिक इतिहास विमर्श - आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर
वैदिक इण्डेक्स भाग-१ - रामकुमार राय, मैक्डानल और कीथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग-१, पं. भगवतदत्त, श्रीराम लाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर
ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि - पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ, मोतीलाल बनारसीदास, बॅग्लोरोड, जवाहरनगर, दिल्ली
वेदशास्त्र संग्रह - विश्वबन्धु, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली
वैदिक धर्म एवं दर्शन भाग-२ - ए. वी. कीथा, सूर्यकान्त, मोती. बनारसी०
वैदिक साहित्य - पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, कलकत्ता
वैदिक संस्कृति - श्री पं. गङ्गाप्रसादजी उपाध्याय, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
पुराण विमर्श - आचार्य बलदेव उपाध्याय - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
वैदिक माइथॉलॉजी - ए. ए. मैक्डानल, रामकुमार राय, विद्याभवन, वाराणसी
अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्त्व - डॉ. राजछत्र मिश्र, पञ्चनन्द पब्लिकेशन, इलाहाबाद
अथर्ववेद एक साहित्यिक अध्ययन - मातृदत्त त्रिवेदी, होशियारपुर, विश्वेश्वरानंद वैदिक शोध संस्थान
प्राचीन भारतीय शासन पद्धति - ए. एस. अल्तेकर, भारत दर्पण ग्रन्थमाला
राजा के देवत्व की भावना - ए. एस. अल्तेकर, काशी विद्यापीठ, एस. ज.
अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र - आर्ष प्रियरत्न
वैदिक साहित्य और संस्कृति - आचार्य बलदेव उपाध्याय
वैदिक सभ्यता - गङ्गाप्रसाद उपाध्याय
व्रात्य समस्या और अथर्ववेद का १५वां काण्ड - ओझा, कामोमोरेटिव वाल्यूम
वैद्यक शब्द सिन्धु - उमेशचन्द्र गुप्त, कलकत्ता
वैदिक राजनीति - एस. चतुर्वेदी
प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद - हजारीप्रसाद द्विवेदी
वैदिक साहित्य की रूपरेखा - पाण्डेय तथा जोशी
प्राचीन भारतीय साहित्य - विन्टरनित्स, अनुवाद - लाजपत राय
वैदिक संस्कृति का विकास - लक्ष्मण शास्त्री
वेद में आयुर्वेद - रामगोपाल शास्त्री

वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा - सत्यप्रकाश
वैदिक व्याख्यानमाला - सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पार्डी, सूरत
हिन्दू सभ्यता - राधाकुमुद मुखर्जी
एन्श्येण्ट इण्डियन एजूकेशन - वही
वेदों में भारतीय संस्कृति - साद्या ठाकुर
भारत की संस्कृति साधना - रामजी उपाध्याय
प्राचीन भारत - डॉ. राजबली पाण्डेय
हिन्दू संस्कार - वही
भारतीय संस्कृति का विकास - औपनिषद् धारा, डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री
वैदिक साहित्य और संस्कृति - वाचस्पति गैरोला
उत्तर वैदिक समाज और संस्कृति - डॉ. विजयबहादुर राय
प्राचीन भारतीय इतिहास - डॉ. रामशङ्कर त्रिपाठी

(३) कोष ग्रन्थ सूची

वाचस्पत्यम् - चौखम्बा प्रकाशन
वैदिक इण्डेक्स, भाग-१, २ - मैकडानल तथा कीथ
इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स - जेम्स हेस्टिंग्स, टी. एण्ड टी. क्लार्क
उपनिषद् वाक्य कोष - काबेल, जी. ए. जैकब

(४) ऑग्ल ग्रन्थ सूची

स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एंशिएण्ट इण्डिया - ए. एस. अल्तेकर
पोजीशन ऑफ वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन - वही
एजुकेशन एण्ड एंशिएण्ट इण्डिया - वही
ऑप्टेक्स ऑफ इण्डियन इकानॉमिक थॉट - के. व्ही. आयङ्गार, आर. रङ्गस्वामी, वाराणसी
एग्रीकल्चर एण्ड एलाइट आर्ट्स इन वैदिक इण्डिया' - के. वाय. नारायन अय्यर, बेंगलोर
सोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन गृह्यसूत्र - व्ही. एम. आप्टे, बम्बई
वाट इज ए वैदिक राइट - ए. अवस्थी, एनुअल बुल, नागपुर
वैदिक ब्रह्मचर्य गीत (हिन्दी) - अभया, गुरुकुल काँगड़ी
लाइट ऑफ दि पैप्पलाद रिसेन्शन ऑफ अथर्ववेद - दुर्गामोहन भट्टाचार्य
इण्डियन मेडिकल प्लान्ट्स - बसु, कीर्तिकर
इण्डो आर्यन पॉलिटी - पी. सी. बसु
इकानॉमिक लाइफ इन एंशिएण्ट इण्डिया - एन. सी. बन्दोपाध्याय, कलकत्ता
हिस्ट्री ऑफ प्री बुद्धिस्ट फिलॉसफी - पी. सी. बागची
सम आस्पेक्ट्स ऑफ इशिएण्ट हिन्दू पालिटी - डी. आर. भण्डारकर
ऑन दि सिग्नीफिकेन्स ऑफ द नेम ब्रह्मदेव एज एप्लाइट टू दि अथर्ववेद

हिम टू द अर्थ. - ए. सी. बोस, शान्तिनिकेतन प्रकाशन भण्डार
द रिलीजन्स ऑफ इण्डिया - ए. बार्थ, लन्दन
हिस्ट्री ऑफ द इण्डियन फिलॉसफी - बेलवलकर, रानाडे, पूना
द अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण - एम. ब्लूमफील्ड, स्ट्रासबर्ग
द हिम्स ऑफ द अथर्ववेद - एम. ब्लूमफील्ड, सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट
रिलीजन ऑफ द अथर्ववेद - एम. ब्लूमफील्ड, सेक्रेड, न्यूयार्क, फुटनानी
वैदिक कनकार्डेन्स अथर्ववेद - एम. ब्लूमफील्ड, सेक्रेड न्यूयार्क, फुटनानी
सेवन हिम्स ऑफ द अथर्ववेद - एम. ब्लूमफील्ड, सेक्रेड अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलॉसफी
इम्पीरियल यूनिटी भारतीय विद्याभवन सीरीज, **द वैदिक एज**
दि क्लासिकल एज भारतीय विद्याभवन सीरीज, **द वैदिक एज**
द पोजीशन ऑफ वूमेन इन द वैदिक रिट्यूअल - जे. बी. चौधरी, कलकत्ता
स्टडीज इन द कम्परेटिव एस्थेटिक्स - पी. चौधरी
पब्लिक ओपीनियन इन इंशिएण्ट इण्डिया - आर. के. चौधरी
एथनिक सेटलमेण्ट इन इंशिएण्ट इण्डिया - एस. बी. चौधरी, कलकत्ता
कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया - रामकृष्ण सेन्टेनरी वाल्यूम्स
ऑन द टेक्स्ट ऑफ अथर्ववेद - क्षित्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय
वैदिक बिब्लियोग्राफी - आर. एन. दाण्डेकर, पूना
द इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंशिएण्ट इण्डिया - हावड़ा
ऋग्वैदिक कल्चर - ए. सी. दास, कलकत्ता
फिलॉसफी ऑफ द उपनिषद्स - ड्यूसो
मौर्यन पॉलिटी - व्ही. आर. आर. दीक्षित
वार इन इंशिएण्ट इण्डिया - व्ही. आर. आर. दीक्षित
दि स्टेट्स ऑफ वूमैन इन वैदिक एज ट्रावनकोर यूनि. - पी. सी. धर्मा
हिस्ट्री ऑफ हिन्दू मैथमेटिक्स - बी. पी. दत्ता, ए. एन. सिंह, लाहौर
हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉलिटिकल आइडियाज - यू. एन. घोषाल, बम्बई
ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पब्लिक लाइफ - यू. एन. घोषाल, बम्बई
द रोल ऑफ हिन्दू पब्लिक लाइफ - यू. एन. घोषाल, बम्बई
द रोल ऑफ अथर्ववैदिक रिट्यूअल एण्ड आइडियोलॉजी इन आर्यन कल्चर - व्ही. ए. गाडगिल, दरभंगा
रिलीजन ऑफ द ऋग्वेद - ग्रिस्वोल्ड
वैदिक कल्चर - स्वामी महादेव प्रसार गिरी - कलकत्ता
एंशिएण्ट इण्डियां मेथमेटिक्स एण्ड वेद - एल. व्ही. गुर्जर, कान्टीनेण्टल बुक सीरीज, पूना

वैदेतिल रोगशास्त्र (मराठी) - कृष्णशास्त्री धुले, धुले लेख संग्रह
थर्टी इयर्स ऑफ हिस्टॉरिकल रिसर्चेस - पी. के. गौड
इण्डियन पॉलिटिकल फिलॉसफी - एन. सी. गांगुली, कलकत्ता
वेदातिल राष्ट्रदर्शन - हरिदास बालाशास्त्री पूना (मराठी)
साइस इन द वेदाज - हंसराज शक्ति पब्लिकेशन्स, लुधियाना
ए हेण्डबुक ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स - ई. डब्ल्यू. हॉपटिक्स, न्यूयार्क
रिट्युअल लिटरेचर स्ट्रासवर्ग - हिलब्राण्ट
ब्रह्म एण्ड पुरोहित इन अथर्ववेद - व्ही डब्ल्यू करमबेलकर
अथर्ववेदावित शरीर विज्ञान - व्ही डब्ल्यू करमबेलकर विदर्भ संशोधन मण्डल
हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र - पी. व्ही. काणे, पूना
द प्लेस ऑफ अथर्व वैदिक कल्चर इन टू इण्डो आर्यन कल्चर - व्ही. डब्ल्यू करमबेलकर, नागपुर यूनि. पब्लिकेशन
अथर्ववेद एण्ड आयुर्वेद - वही
द डेट ऑफ द अथर्ववेद - किवे, पूना ओरियण्टल
द डेट होम एण्ड कन्टेन्ट ऑफ द अथर्ववेद - अन्नामलायंगर
द रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द वेदाज एण्ड उपनिषद्स - हर्बर्ड यूनियन प्रेस
एंशिएण्ट इण्डियन ट्राइब्स - बी. सी. ला
वैदिक इण्डिया, क्लासिकल इण्डिया - सीरीज एस. आर. लार्ड कलकत्ता।
वैदिक इंडेक्स ए. ए. मेकाडानल, ए. वी. कीथ, मोती, बना. वाराणसी।
द वैदिक एज - आर. सी. मजूमदार
कारपोरेट लाइफ इन एंशिएण्ट इण्डिया - आर. सी. मजूमदार
हिस्ट्री ऑफ एंशिएण्ट संस्कृत लिटरेचर - एम. ए. मैक्समूलर, लन्दन
इण्डिया व्हाट इज टीच अस लिटरेचर - एम. ए. मैक्समूलर, लन्दन
द बेसेस ऑफ स्ट्रालाजी इन द वेदाज एकेडमी ऑफ वैदिक रिसर्च - डी. डी. मेहता, दिल्ली
प्री बुद्धिस्ट इण्डिया - आर. एल. मेहता
एग्रीकल्चरल हिम्स इन द अथर्ववेद एण्ड देयर यूजेस - बी. आर. मोडक, दिल्ली
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडिसिन - जी. एन. मुखोपाध्याय, कलकत्ता
इण्डियाज पास्ट - ए. ए. मैक्डानल
वैदिक स्कालर्स एण्ड द अथर्ववेद - एच. सी. नरहरि
ऑप्टेक्स ऑफ ब्रह्म इन अथर्ववेद - एच. आर. नावरे, लखनऊ
ए हिस्टॉरिकल सर्वे ऑफ द नॉर्थ वेस्टर्न इण्डिया - डॉ. के. सी. ओझा
दि रोहित सूक्त्स ऑफ द अथर्ववेद - यू. के. ओझा

हिम्स ऑफ रेस्टोरेशन इन द अथर्ववेद, देयर पालिटिकल सिग्नीफिकेंस, डॉ. आर. बी. पाण्डेय, अहमदाबाद
हिम्स फॉर कमर्शियल सक्सेस इन द अथर्ववेद, इकानॉमिक्स सिग्नीफिकेंस -वाल्टेयर वही
वैदिक ओरिजिन ऑफ इण्डियन रिपब्लिक - वही
अथर्ववेद में मातृभूमि की कल्पना - वही
हिन्दू संस्कार - वही, विक्रम पब्लिकेशंस, बनारस
इण्डियन एस्थेटिक्स - के. सी. पाण्डेय, वाराणसी
सेल्फ गवर्नमेण्ट इन वैदिक इण्डिया - एन. बी. पैगी
थ्योरी ऑफ गवर्नमेण्ट इन एंशिएण्ट इण्डिया - बेनीप्रसाद
इण्डिया एट द टाइम ऑफ पतञ्जलि - बी. एन. पुरी, बम्बई
फूड एण्ड ड्रिंक इन एंशिएण्ट इण्डिया - ओमप्रकाश, देहली
जर्नल ऑफ माइथिक सोसायटी, क्वालि
इण्डियन फिलॉसफी - डॉ. एस. राधाकृष्णन्
ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमेस्ट्री - पी. सी. राय
पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशिएण्ट इण्डिया - एच. सी. राय चौधरी
रिलीजिअस एण्ड सोशल डाटा इन पुराणाज - डॉ. सिद्धेश्वरीनारायण राय
रिव्यू ऑन द काश्मीरियन अथर्ववेद - एल. रिनाड
शूद्राज इन एंशिएण्ट इण्डिया - आर. एस. शर्मा, मोतीलाल बनारसी, बनारस
फाउण्डेशन ऑफ अथर्व वैदिक रिलीजन - शिन्दे, डेकन कॉलेज
रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑफ द अथर्ववेद
अथर्ववेद का परिचय - डॉ. सम्पूर्णानन्द काशी विद्यापीठ
द हिम्स ऑफ इलेक्शन इन द अथर्ववेद एण्ड इट्स पॉलिटिकल इम्प्लीकेशन्स - आर. बी. पाण्डेय।
वूमेन इन वैदिक एज - शकुन्तलाराव शास्त्री, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
इण्डियन एस्थेटिक्स - के. एस. शास्त्री
स्कम्भ हिम्स ऑफ द अथर्ववेद - ई. ए. सोलोमन, भुवनेश्वर
वैदिक क्रोनोलॉजी - बी. जी. तिलक
वैदिक साहित्य - आर. जी. त्रिवेदी
वैदिक कल्चर - जी. पी. उपाध्याय, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली
वूमेन इन ऋग्वेद - बी. एस. उपाध्याय
वैदिक स्टडीज - वेंकट सुबैया
दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर - वेबर, ए. वेन्टरनिट्ज, यूनि. ऑफ कलकत्ता

(५) जर्नल्स

अमेरिकन जर्नल ऑफ फिलॉसफी
एनल्स ऑफ भण्डारकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, पूना
बुलेटिन ऑफ डेकन कॉलेज रिसर्च एण्ट पोस्ट ग्रेजुएट इंस्टी., पूना
भवन्स जर्नल, बम्बई
इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इण्डियन हिस्ट्रॉरिकल क्वाटर्ली
जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरिएण्टल सोसायटी
जनरल ऑफ रॉयल एशिया सोसायटी
जर्नल ऑफ द यूनिवर्सिटी ऑफ बॉम्बे
जर्नल ऑफ बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसायटी, पटना
जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता
जर्नल ऑफ द गङ्गानाथ झा रिसर्च इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद
मार्डन रिव्यूज
मिमोयर्स ऑफ द आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया
प्रबुद्ध भारत - कलकत्ता
प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस
जर्नल ऑफ ऑल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फ्रेंस
स्टडीज इन ह्यूमेनिटीज, ए जर्नल ऑफ रिसर्च स्टडी सर्किल यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद।